जीवन की पगडंडियाँ

• प्रकाशक
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर–३३४००१ (राजस्थान)

• प्रथम संस्करण १९८९

• मूल्य : तीस रुपये

• मुद्रक
फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२००३

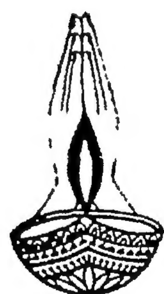
जीवन-शिल्पी

आचार्य श्री नानेश

को

सादर, सविनय

समर्पित



प्रकाशकीय

जीवन और समाज मे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र की विशुद्ध साधना की परिपालना की प्रेरणा देने तथा तदनुकूल साधन उपलब्ध कराने के उद्देश्य से वि० स० २०१६ मे आश्विन शुक्ला द्वितीया को श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ की स्थापना की गई।

सघ के उद्देश्यो की सम्पूर्ति के लिए कई प्रवृत्तिया सचालित है, यथा समता दर्शन पर आधारित नव समाज-रचना, धार्मिक नैतिक परीक्षा बोर्ड का सचालन, पिछड़े वर्गों मे सस्कार निर्माणकारी धर्मपाल प्रवृत्ति, समता प्रचार सघ, श्री गणेश जैन छात्रावास, श्री गणेश जैन ज्ञान भण्डार, श्री सुरेन्द्रकुमार साड शिक्षा समिति, आगम, अहिंसा, समता एव प्राकृत सस्थान, 'श्रमणोपासक' पाक्षिक पत्र का प्रकाशन, जैन विद्या के क्षेत्र मे अध्ययन-अनुसधान एव साहित्य प्रकाशन, साधनाशील प्रवृत्ति वीर सघ आदि।

आत्मोत्कर्षकारी एव समाजोन्नतिमूलक इन बहुमुखी सघ प्रवृत्तियो मे सत्-साहित्य के निर्माण, प्रकाशन एव वितरण की प्रवृत्ति का अपना विशेष महत्त्व है। विभिन्न ग्रथमाला-योजनाओ के अन्तर्गत सघ द्वारा आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, तात्त्विक, कथात्मक, काव्यात्मक, प्रवचनात्मक, व्याख्यात्मक, सस्मरणात्मक, प्रश्नोत्तर आदि विविध विधामूलक प्रेरणादायी उपयोगी साहित्य नियमित प्रकाशित होता है। कोई भी व्यक्ति या सस्थान १००१ रुपये प्रदान कर आजीवन साहित्य सदस्य बन सकता है। साहित्य-सदस्यो को सभी उपलब्ध प्रकाशन नि शुल्क भेजे जाते है।

सघ की ओर से पाक्षिक पत्र 'श्रमणोपासक' का विगत २४ वर्षों से नियमित प्रकाशन हो रहा है। इसमे जैनधर्म, दर्शन, सस्कृति, इतिहास और मानवीय सद्-भावनाओ को जागृत करने वाली रचनाएँ विविध विधाओ मे प्रकाशित होती है साथ ही सघ की विविध प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन रहता है। इसकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ विचारोत्प्रेरक, आत्मस्पर्शी और दिशाबोधक होती हैं।

अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ और 'श्रमणोपासक' के रजत जयन्ती वर्ष के उपलक्ष्य मे 'श्रमणोपासक' मे प्रकाशित डॉ० नरेन्द्र भानावत की चुनी हुई विशेष

सम्पादकीय टिप्पणिया **'जीवन की पगडडियाँ'** नाम से पुस्तक रूप मे प्रकाशित करते हुए हमे अत्यन्त प्रसन्नता है। डॉ० भानावत प्रबुद्ध चिन्तक, सवेदनशील कवि, सृजनधर्मी समीक्षक और कुशल सम्पादक हैं। उनके लेखन मे केन्द्र विन्दु के रूप मे कोई न कोई मौलिक विचार और तत्सम्वन्धी रचनात्मक सुझाव रहता है। इन निवन्धो मे व्यक्त किये गये विचार लेखक के अपने विचार हैं। इनसे सघ का सहमत होना आवश्यक नही है।

प्रस्तुत कृति दो खण्डो मे विभक्त हैं—'जीवन तत्त्व' और 'जीवन-व्यवहार'। 'जीवन तत्त्व' खण्ड मे २६ निबन्ध हैं जिनमे क्षमा, मार्दव, आर्जव, समता, स्वतन्त्रता, अनासक्ति, वीरत्व, तप, त्याग, सेवा जैसी मानवीय सद्वृत्तियो का जीवन-सार के रूप मे विवेचन है। 'जीवन-व्यवहार' खण्ड मे २४ निबन्ध हैं जिनमे सहयोग, सादगी, स्वावलम्वन, सन्तुलन, शिक्षा, दीक्षा, आजीविका-शुद्धि, व्रत-नियम आदि का व्यावहारिक समीक्षण है।

आशा है, यह कृति कटकाकीर्ण, भयावह, बीहड जीवन-अरण्य की भूल-भुलैया मे पगडडी का काम देगी।

—गुमानमल चौरड़िया
सयोजक
श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन साहित्य समिति

अनुक्रम

अपनी बात

प्रथम खण्ड

जीवन-तत्त्व

द्वितीय खण्ड

जीवन-व्यवहार

पृष्ठ सख्या

अपनी बात

जीव का महत्त्व उसकी जीवन-शक्ति के कारण है। जीव जीव इसलिए है कि उसमे जीवन है। यह जीवन कहाँ से आया, क्यो आया, कैसे आया और इसकी अन्तिम परिणति क्या है, इस पर ऋषि-मुनियो, दार्शनिको, समाज वैज्ञानिको और भौतिक विज्ञानवेत्ताओ ने अपने-अपने ढग से चिन्तन किया है। पर यह प्रश्न अब भी अपनी रहस्यात्मकता लिए हुए है। जीवन का मूल आधार आन्तरिक चेतना शक्ति है। बाहर हमे जो कुछ दिखाई देता है, वह तो अत्यल्प है। आन्तरिक जगत् मे जो स्पन्दना और सवेदना है, उसकी थाह लेने मे बाहरी शक्तियाँ समर्थ नही हैं। बाहरी जगत् मे जो हलचल उठती है, उसके अपने प्राकृतिक नियम हैं। उन नियमो के आधार पर भौतिक विज्ञानी समय-समय पर वर्तमान व भविष्य मे होने वाली घटनाओ पर अपनी प्रतिक्रियाएँ और सभावनाएँ व्यक्त करते हैं, पर वे तदनुरूप घटित होती हो, ऐसा सदैव नही होता। फिर आन्तरिक जीवन-जगत् जो अदृश्य और अमूर्त है, उसमे घटित होने वाली सवेदनाओ, स्थितियो और शक्तियो को पकड पाना, उन्हे समझ पाना सामान्य मानव-शक्ति से परे है। यही कारण है कि जीवन, जगत् और ब्रह्म के पारस्परिक सबधो को लेकर अनेक विचारधाराएँ विद्यमान हैं।

सामान्य रूप से हम जिस जीवन की चर्चा करते हैं वह जैविक जीवन है। जडवादियो का मानना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन तत्त्वो के सयोग से यह जीवन अस्तित्व मे आता है। प्रकृतिगत और समाजगत परिवेश पाकर यह जीवन विकास करता है और उक्त तत्त्वो के वियोग होने पर अथवा विलय होने पर इस जीवन की समाप्ति हो जाती है।

पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो पता चलेगा कि जीवन के प्रति जैविक दृष्टि अत्यन्त स्थूल है। यदि जीवन इस शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है तो फिर जीवन के साथ अनुस्यूत आत्मिक गुणो के सतत विकास और परमात्म शक्ति मे उनके परिणत होने का प्रश्न ही नही उठता और इस स्थिति मे मानवीय मूल्यो की चर्चा

और साधना का पुरुषार्थ बेमानी हो जाता है। जीवन-मूल्यो की चर्चा तभी सार्थक बनती है जब आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म मे आस्था हो। अत यह मान्यता अनुभवगम्य है कि इस पौद्गलिक शरीर से परे कोई विशिष्ट चेतना-शक्ति है जो इस भौतिक शरीर के नष्ट होने के बाद भी बनी रहती है और सस्कारो की गुणाकार वृद्धि या क्षति भाव के अनुसार सतत होती रहती है।

जीवन का सम्बन्ध वस्तुत चेतना-शक्ति से है जो अविनाशी है। शरीर के साथ इस चेतना-शक्ति का अन्त नही होता। उसमे जो पर्यायगत परिवर्तन दिखाई देता है, वह परिवर्तनशील पदार्थों के साथ उसका तादात्म्य होने के कारण ही। लोहा और आग के उदाहरण से इस तथ्य को समझा जा सकता है। लोहे को आग मे तपाने पर जब उसे घन से पीटा जाता है तो लोहा और आग दोनो फैलते हुए नजर आते हैं। प्रश्न है, यहाँ फैलाव लोहे और आग दोनो मे है या केवल लोहे मे? वस्तुत फैलता लोहा है पर आग का लोहे के साथ सपर्क है, अत लोहे के साथ आग का फैलाव होता प्रतीत होता है। यहाँ आग चेतना है और लोहा शरीर। चेतना मे जो परिवर्तन और सुख-दु खात्मक अनुभव प्रतीत होता है, वह वस्तु या व्यक्ति के तादात्म्य के कारण ही होता है। यह जो चेतना है वही जीव का लक्षण और जीवन-शक्ति है। इस पर आवरण होने से यह जीवन-शक्ति प्रकट नही हो पाती। इसे प्रकटाना ही जीवन का लक्ष्य है।

सामान्यत जीव आहार, निद्रा, भय, वासना आदि वृत्तियो मे और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो मे उलझा रहता है। इस कारण उसकी चेतना शक्ति सुषुप्त बनी रहती है। इन्द्रियो के विषयो—शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श आदि के सेवन मे जीव आसक्त बनकर अपनी शक्ति का क्षरण करता रहता है। भोगवृत्ति मे मोहित होकर जीव अपनी सवेदनाओ को कुण्ठित कर देता है। अपने स्वार्थ मे ही वह उलझा रहता है। दूसरो के हित और भलाई के लिए उसमे प्रेम और करुणा का भाव जागृत नही हो पाता। जीव होते हुए भी वास्तविक जीवन वह जी नही पाता। प्राण होते हुए भी वह पिघल नही पाता। यही जडता की स्थिति है। शास्त्रकारो ने इस स्थिति को मिथ्यात्व कहा है।

यह जडता जीवन नही है। जीवन है सजगता। सजगता का अर्थ केवल बाहरी हलचल नही वरन् आन्तरिक जागरूकता है। 'जग' का अर्थ है जानना, प्राप्त करना, प्रगति करना। जो भोग-वृद्धि से, मोह-मूर्च्छा से ऊपर उठकर केवल अपनी सवेदनाओ को ही नही बल्कि प्राणिमात्र की सवेदनाओ को जानने और उनके प्रति सहृदय होने का सामर्थ्य विकसित कर लेता है, वही सचेतन है, सजग है। यह सजग चेतना निर्दोष, निर्विकार और निर्वैर होती है, क्योकि उसकी दृष्टि उपभोगमूलक न

होकर उपयोगमूलक होती है। वह मानसिक विकारो और विभावो मे नही भटकती। वह क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, तप, त्याग, समता जैसे आत्म-स्वभावो मे रमण करती है। आत्म-स्वभाव के प्रति सचेष्ट रहना ही सजगता है। जो सजग होता है, वह अप्रमत्त होता है। उसे किसी प्रकार का लोभ-लालच, मोह-ममत्व नही होता।

जीवन मे सजगता का भाव जागृत होने पर जीवन सघर्ष का नही, सेवा का क्षेत्र बन जाता है। 'जो शक्तिशाली है वह जीवित रहता है और जो निर्बल है, वह जीवन-सघर्ष मे नष्ट हो जाता है या नष्ट कर दिया जाता है' इस भावना से ऊपर उठकर वह सबल और निर्बल सबके प्रति प्रेम और मैत्री का व्यवहार करता है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' के अनुसार परस्पर उपकार करते हुए, सबके प्रति सहयोग और सहकार की भावना रखते हुए जीना ही सार्थक जीवन है। बाह्य सघर्ष से शक्ति क्षीण होती है। मन मे तनाव और दबाव रहता है। जब सघर्ष दूसरो से न होकर अपने ही मनोविकारो के शमन के लिए होता है, तब सघर्ष शक्ति-सचय और शक्ति-रक्षण का साधन बनकर लोक सेवा मे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार जीवन मे प्राप्त शक्तियो के सदुपयोग के लिए व्यापक क्षेत्र और अवसर मिलता है। सपूर्ण जीवन फिर अपने लिए नही, दूसरो के लिए समर्पित हो जाता है। इस अवस्था मे व्यक्ति वर्षों मे नही कार्यों मे जीवित रहता है, सासो मे नही विचारो मे अभिव्यक्त होता है।

सजगता और सेवा से ओत-प्रोत जीवन ही वास्तविक और स्थायी जीवन है। ऐसा जीवन सुख-दु ख से परे अखण्ड आनन्द स्वरूप है। उसके चारो ओर शान्ति और समता का निवास रहता है। सासारिक नश्वर वस्तुओ से उसका सग छूट जाता है और अविनाशी परमात्म-शक्ति के साथ उसका सत्सग सतत चलता रहता है। जीवन की इस अवस्था मे मृत्यु का भय या विचार नही रहता। मृत्यु अमरत्व की प्राप्ति का साधन बनकर आती है। विषय-विकारो से रहित ऐसा जीवन सक्रिय तो होता है पर कामनाशील नही। अखण्ड आनन्द की अनुभूति होने से वहाँ कोई अभाव या कमी रहती ही नही। कमी से ही कामना पैदा होती है। ऐसा जीवन सभी प्रकार की कमियो और कामनाओ से मुक्त होकर अपनी समस्त योग्यताओ और शक्तियो का पूर्ण विकास कर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ जीवन के जिस स्वरूप पर विचार किया गया है, वह आज विकृत, विरूप और सकटग्रस्त है। आज जीवन मोटे तौर से जैविक चौखट मे ही बन्द होकर रह गया है। आत्मिक-शक्ति के पूर्ण विकास की समझ धूमिल हो गयी है। चारो ओर भोगवृत्ति और हिंसा का खतरा अधिकाधिक बढ गया है। पहले के बीहड,

सघन, विकट जगल आज कट गये हैं और उनकी जगह सूक्ष्म हिंसा, भय, द्वेष, लोभ, कलह और होड के नये, घने और भयावने जगल हर मन के भीतर उग आये हैं। आज पहाडो, घाटियो, नदियो और खाइयो को पाटकर विशाल राजपथ निर्मित हो गये हैं। साफ-सुथरी, लम्बी-चौडी सडकें बन गई हैं, जिन पर भारी भरकम वाहन दौडते हैं, भीड गुजरती है, जुलूस निकलते हैं। पर इन सबमे जीवन का प्यार नही, भार भरा है, मुस्कान नही, थकान है, सरक्षण का भाव नही, भक्षण का भय है, हृदय का अनुराग नही, युद्ध की आग है।

इस भयावह स्थिति मे जीवन कही खो गया है, जीवन का रस कही सूख गया है। केवल सडकें हैं, मजिलें कही दिखाई नही देती, तीव्र गतिशीलता है, स्थित प्रज्ञता का कही आभास नही होता। ऐसे कठिन समय मे जीवन की पगडडियो की तलाश आवश्यक है। पगडडी सीधा, छोटा और सरल मार्ग है। सघन, भयकर, कटीले, अधेरे, ऊबड-खाबड रास्ते मे एक तेजस्वी, सूक्ष्म ज्योति-रेखा है। यह पगडडी कही बाहर नही अपने भीतर ही बनानी है। अपनी भोगोन्मुख प्रवृत्तियो को सीमित, नियत्रित करके, तप और त्याग का सबल लेकर इसकी प्रक्रिया आरभ करनी है। इसमे स्वय को पुरुषार्थ करना होता है, अपने को खपाना होता है, स्वय को चलना होता है।

मनुष्य जन्म की यात्रा अनन्त पथ की यात्रा है। जब तक मजिल प्राप्त नही होती, सतत चलना ही चलना है। इस यात्रा मे जागरूकता, आत्म-विश्वास, दृढ इच्छा शक्ति, प्रेम, मैत्री, करुणा, अनुशासन, कर्तव्यपरायणता, व्रतनिष्ठा, सस्कार-शीलता, सादगी, स्वावलम्बन, एकता, सतुलन, सयम पगडडियाँ हैं। इन पर चलकर ही गन्तव्य प्राप्त किया जा सकता है।

मानवीय सद्गुणो की ये पगडडियाँ प्राणिमात्र का सम्बल बनें, इसी भावना से इस कृति का प्रणयन किया गया है। इसमे दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड **'जीवन-तत्त्व'** मे २६ निबन्ध हैं जिनमे मनुष्य-जन्म की महत्ता, आत्म-जागरण, आन्तरिक वीरत्व, आधुनिक भावबोध, स्वतन्त्रता, समता, क्षमा, कोमलता, सरलता, पवित्रता, अहिंसा, अपरिग्रह, तप, त्याग, वीतरागता जैसे जीवन-तत्त्वो का हार्द प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय खण्ड **'जीवन-व्यवहार'** के २४ निबन्धो मे जीवन, सस्कृति और प्रकृति के परिप्रेक्ष्य मे मानवीय मूल्यो की व्यवहारगत विवेचना है।

ये निबन्ध समय-समय पर 'श्रमणोपासक' की सम्पादकीय टिप्पणियो के रूप मे लिखे गये हैं, अत कही-कही विचारो की पुनरावृत्ति परिलक्षित हो सकती है।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ और उसके मुखपत्र 'श्रमणोपासक' के रजत जयन्ती वर्ष में चुनी हुई जीवनमूल्यपरक सम्पादकीय टिप्पणियों को पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया है, उसके लिए मैं संघ के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

आशा है, यह कृति सही जीवन-दिशा की ओर बढ़ने में पगडंडी सिद्ध होगी।

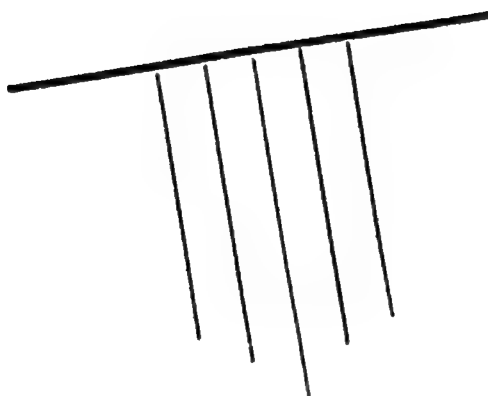
—नरेन्द्र भानावत

सी-२३५ ए, तिलकनगर
जयपुर–३०२ ००४





प्रथम खण्ड



जीवन-तत्त्व

१ हीरा जनम अमोल यह !

आज भारत की ही नही विश्व की जनसख्या तेजी से बढती जा रही है। पर जिस अनुपात मे जन होने का भाव अर्थात् मनुष्यता का विकास होना चाहिए, वह नही हो पा रहा है। मनुष्य जन्म मिलना एक बात है और मनुष्य जन्म पाकर मनुष्यता का विकास होना दूसरी बात है। मनुष्य जन्म प्राप्त करना अपने आप मे एक बडी उपलब्धि है, क्योंकि मनुष्य की ऐसी कुछ नैसर्गिक विशेषताएँ है जो अन्य जीवधारियो मे नही मिलती। जैसे बुद्धि का प्राप्त होना, अतीत की बातो को याद रखना, भविष्य की कल्पनाएँ करना और मन के भीतर गहरे उतर कर आत्मलीनता की अनुभूति करना। ऐसा मनुष्य जन्म सहज प्राप्त नही होता। सस्कारगत सहज सरलता, विनम्रता, दयालुता और अमत्सरता जैसे सद्‌गुणो से ही इसकी प्राप्ति सभव हो सकती है।

पर कितने ऐसे लोग हैं जो हीरे के समान अनमोल मानव जीवन को प्राप्त कर उसकी रक्षा और बढोतरी के लिये प्रयत्नशील रहते है ? मनुष्य अपनी श्रेष्ठता को आन्तरिक रूप से ही प्रकट कर सकता है। यद्यपि यह अन्य जीवधारियो की तरह आहार करता है, नीद लेता है तथा अन्य दैहिक कार्य सम्पन्न करता है पर यह सब तो उसकी पशुता का ही प्रकटीकरण है। लार्ड बेकन ने बहुत ही सुन्दर ढग से कहा है—'मनुष्य जो कुछ खाते है उससे नही, किन्तु जो कुछ पचा सकते है, उससे बलवान् बनते हैं। पढते हैं उससे नही, जो कुछ याद रखते हैं, उससे विद्वान् होते है। उपदेश देते हैं, उससे नही, जो आचरण मे लाते हैं, उससे धर्मात्मा बनते हैं।'

वस्तुत मनुष्य जन्म प्राप्त करना ही पर्याप्त नही है वरन् उसे सार्थक बनाना भी महत्त्वपूर्ण है। "उत्तराध्ययन सूत्र" मे भगवान महावीर ने कहा है—इस ससार मे प्राणियो के लिए चार अग परम दुर्लभ हैं—मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, धर्मश्रद्धा और सयम मे पुरुषार्थ अर्थात् धर्म प्रवृत्ति।[1] जो मनुष्य, मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी उसे

---

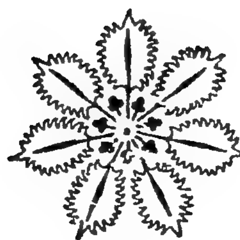
१ चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणीह जतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा, सजयम्मि य वीरीय ॥ ३/१ ॥

सोने, खाने और ऐश-आराम मे ही विता देता है, उसके लिए हीरा जैसा अनमोल जीवन भी तुच्छ है। कहा भी है—

> रात गँवाई सोय के, दिवस गँवाया खाय।
> हीरा जनम अमोल यह, कौडी बदले जाय॥

मनुष्य जन्म पाकर धर्म श्रवण करना अर्थात् धार्मिक महापुरुषो के उपदेशो को सुनने का अवसर प्राप्त करना पुण्य का फल है। जिनके सस्कार अच्छे होते हैं वे ही धर्म की ओर प्रवृत्त हो पाते हैं। जो सस्कारहीन होते है उन्हे धर्म की वात सुनना भी अच्छा नही लगता। धर्म की वात सुनकर उस पर श्रद्धा रखने वाले विरले ही होते हैं, अधिकाश लोग लोक-लिहाज से धर्मसभा मे आ भी जाते है, व्याख्यान आदि सुन भी लेते हैं, पर उसे इस कान से सुनकर उस कान से निकाल देते हैं अथवा शुष्क तर्कजाल मे उलझ जाते है। धर्म पर श्रद्धा जमना भी पुण्य का फल है। धर्म श्रवण कर भी लिया, श्रद्धा जम भी गई पर यदि उसके अनुरूप प्रवृत्ति नही हुई, पुरुषार्थ नही जमा, धर्म आचरण मे नही उतरा तो उसका पूरा लाभ मिलने वाला नही है। ज्ञान की वातें करने वाले तो कई मिल जावेंगे, श्रद्धा रखने वाले भी मिल जावेंगे पर स्वय सयम मे प्रवृत्ति करने वाले कम ही मिलेंगे। जिसने मनुष्य जन्म पाकर धर्म का श्रवण किया, उस पर श्रद्धा की और सयम मे पराक्रम दिखाया, उसी का मनुष्य जीवन सार्थक है। एक कवि ने ठीक ही कहा है—

> मिले मोकळा मिनख पण, मिले न मिनखाचार।



२ परिधि से केन्द्र में आयें, ज्योति भीतर उतारें

एक समय था, जब पश्चिमी देशो मे धर्म का विरोध हुआ क्योंकि धर्म के भ्रामक निरूपण ने व्यक्ति को पराधीन बना दिया था। व्यक्ति के सुख-दु:ख ईश्वराधीन कर दिये गये थे। सबका नियन्त्रण ईश्वर के हाथ मे सौंप दिया गया था। पर जब पश्चिमी देशो का सम्पर्क भारतीय दर्शनो विशेषकर जैन दर्शन से हुआ तब उन्हें अहसास हुआ कि ईश्वर के नियन्त्रण और सुख-दु:ख कर्ता रूप को अस्वीकार करके भी धर्माराधना की जा सकती है। ईश्वर-निर्भरता से मुक्त कर, आत्म-निर्भरता की ओर प्रवृत्त करने की जैन दार्शनिक चितना ने पश्चिमी देशो मे धर्म के प्रति नई जिज्ञासा और अन्त स्फुरणा पैदा की। आज इस अन्त स्फुरणा को जीवन मे उतारने की आवश्यकता है।

व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है। व्यक्ति की मजबूती और शुद्धता पर ही समाज की मजबूती और पवित्रता निर्भर है। मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक चरण मे जीवन सरल था। जीवनयापन के लिये सघर्ष के अवसर कम थे, पर ज्यो-ज्यो औद्योगीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई, जनसख्या मे वृद्धि हुई, मुद्रा का प्रसार हुआ, जीवन जटिल बन गया और जागतिक समस्याए बढ गई। आज हर व्यक्ति इन समस्याओ को हल करने के लिये सघर्षरत है। पर विडम्बना यह है कि ये समस्याए हल होने के बजाय उत्तरोत्तर सुरसा के मु ह की भाँति बढती जा रही हैं, उलझती जा रही हैं।

क्या कभी आपने विचार किया है कि ऐसा क्यो हो रहा है? दरअसल बात यह है कि आज व्यक्ति अपने को भूल कर, अपने को अलग कर, समाज और दूसरो के बारे मे सोचता है। परिणाम यह होता है कि वह समस्याओ के वृत्त के चारो ओर चक्कर काटता रहता है और उसके हाथ कुछ भी नहीं लगता। समस्याओ से निपटने के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति परिधि से केन्द्र मे आये और अपने आप को जाग्रत करे। यदि व्यक्ति स्वय सुधर गया तो समस्याए स्वत हल होती जायेंगी। भगवान् महावीर ने शायद इसीलिये कहा—जो एक को जानता है वह सबको जानता है —"जे एग जाणई, ते सव्व जाणई।"

यह सच है कि व्यक्ति सब प्रकार की शक्तियो और क्षमताओ का पु ज है। उसकी आत्मा ही सुख-दु ख की कर्ता और हर्ता है। उस पर निग्रह करना ही

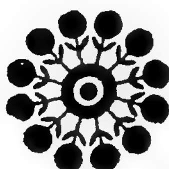
सबसे बडी विजय है। जो पुरुष दुर्जय सग्राम मे दस लाख योद्धाग्रो पर विजय प्राप्त करे, उसकी अपेक्षा यदि वह अपने आपको जीतता है तो यह उसकी परम विजय है।[1] इसलिये भगवान् महावीर ने कहा—आत्मा के साथ ही युद्ध कर, बाहरी दुश्मनो के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झग्रो।[2]

आज दुनिया मे जो हाहाकार, शोषण, हिंसा और अशान्ति है, उसका मूल कारण है क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आवेगो का आधिक्य और विषयासक्ति की लोलुपता। इससे निपटने के लिये आत्मानुशासन और मनोनिग्रह आवश्यक है। समाज मे व्याप्त क्रोध को दूर करने के लिये आवश्यक है कि अपने मे प्रेम पैदा करें, समाज मे व्याप्त जमाखोरी और लोभवृत्ति को दूर करने के लिये आवश्यक है कि अपनी इच्छाग्रो का नियमन करें तथा प्राप्त सामग्री को जरूरतमद लोगो मे बाटें और समाज मे व्याप्त द्वेषभाव को नष्ट करने के लिये आवश्यक है कि अपने मे मैत्री बसायें। समाज मे व्याप्त अन्धकार केवल बाहर ज्योति जलाने से मिटने वाला नही है, उसके लिये आवश्यक है कि ज्योति अपने भीतर उतारें।

१—जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जग्रो॥
—उत्तराध्ययन सूत्र ६/३४

२—उत्तराध्यन सूत्र ६/३५



२ भीतर की खोज-यात्रा शुरू करें

आज का युग विज्ञान का युग है, जगत् के रहस्यों को जानने और खोजने का युग है। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक सभ्यता का जो रथ आगे बढ़ा है वह इसी पथ पर। इस यात्रा को सुखद और सुरक्षित बनाने मे मनुष्य ने अपनी बुद्धि का उपयोग कर नये-नये आविष्कार किये हैं और द्रुतगामी उपकरण तथा साधन ढूंढ निकाले हैं जल, थल तथा नभ मे विचरण करने के। बहिर्जगत की यात्रा मे मनुष्य बेतहाशा भागा जा रहा है, दौड़ा जा रहा है। उसे क्षण भर भी विश्राम करने का समय नहीं।

इतनी दौड़-धूप करने के बाद भी मनुष्य शात और सुखी नहीं है, क्योकि उसने स्वभाव मे स्थित न रहकर विभाव मे विचरण करना शुरू कर दिया है। प्रकृति के नियमो का अतिक्रमण कर अपने को विकृति के बाड़े मे कैद कर लिया है। मनुष्य का बड़प्पन इन्सान से भगवान् बनने मे है, पर ज्ञान के अहम् ने उसे शरीर की पाच–छह फीट की ऊँचाई मे ही सिमटा कर रख दिया है। और इसी बिन्दु पर वह अपने आपको सबसे बड़ा विवेकवान और खोजी समझ बैठा है। इसी भूल ने उसे व्याकुल और अशान्त बना दिया है।

कहा जाता है कि सृष्टि के आदिम युग मे पृथ्वी, पानी, हवा, अग्नि, बादल, पहाड़, पेड़ आदि थे। प्रकृति का मनोहारी, निर्मल, प्रशान्त वातावरण था। फूल श्री–सौरभ लिये मुस्कराते थे, चिड़िया फुदक-फुदक कर मस्त तराने गाती थी। सब ओर शान्ति तैरती थी। पर ज्योही मनुष्य पैदा हुआ स्थिति बदल गयी। वह बुद्धिमान् था। उसमे पुरुषार्थ और पराक्रम था। वह साहस व जीवट का धनी था। उसमे प्रेम, सहकार, मैत्री, करुणा, दया जैसी कोमल भावनायें थी पर धीरे-धीरे ये सब छूटती गईं और उनका स्थान प्रतिस्पर्द्धा, प्रतिशोध, कठोरता, कटुता, सघर्ष, ईर्ष्या, क्रोध जैसे भाव लेते गये। इन भावो के माध्यम से वह सस्कृति की छाया को विस्तार देना चाहता था पर इसके बदले विकृति का घेरा बढ़ता गया।

पर मनुष्य कब चुप रहने वाला था? उसने पूजापाठ के नाम पर नये-नये व्यापार करने शुरू किये। मन्दिर बनाये व मिटाये जाने लगे। पक्षियो, पेड़ो व

जानवरो ने पूजा-पाठ का कोई विधान नही रचा, मन्दिर-मस्जिद नही बनाये पर मनुष्य ने पैदा होते ही सभ्यता के नाम पर बडे-बडे प्रतिष्ठान खडे कर दिये। आपसी सघर्ष से, स्वार्थ से उपद्रव होने लगे। मनुष्य को पद-पद पर मनुष्य से शिकायतें होने लगी। किसी को वर्षा की कमी, किसी को धूप की कमी, किसी को धन व जायदाद की कमी, किसी को पत्नी और पुत्र की कमी। सब अपनी-अपनी शिकायतें लेकर ईश्वर के पास पहुँचे। वे शिकायतें सुनते-सुनते तग आ गये। वे उसकी स्वार्थलिप्सा और अविवेकशीलता से परिचित थे। वे अब किसी तरह मनुष्य से बचना चाहते थे। ऐसे स्थान पर जाना चाहते थे जहा उन्हे मनुष्य खोज न सके।

पर ऐसा सुरक्षित स्थान कहाँ था ? हिमालय, पर नही वहा भी तो तेनसिंह और हिलेरी पहुँच सकते थे। चन्द्रमा, पर नही, वहा भी तो नील आर्मस्ट्राग जैसे व्यक्ति पहुँच सकते थे। समुद्र, पर नही, वहा भी तो पनडुब्बियां पहुँच सकती थी। आखिर सोच-समझ कर ईश्वर मनुष्य के भीतर ही छिपकर बैठ गये। वहा वे सुरक्षित थे, अभय थे क्योकि मनुष्य बाहर तो दौड-धूप कर सकता था पर भीतर झाकने की उसे फुर्सत नही थी। उसने बाहर तो अनेक नये-नये क्षेत्र खोज निकाले, समुद्र से तेल निकालने मे वह सफल हो गया, धरती से नाना प्रकार के रत्न, जवाहरात प्राप्त करने मे उसे सफलता मिल गयी। पर भीतर आत्मशक्ति का जो अनन्त प्रकाश है, तेज है, उसकी ओर उसका ध्यान नही गया। बाहर उसने अनेक भव्य मन्दिर बनाये पर अपने मन-मन्दिर की ओर उसने झाका तक नही, बाहर उसने अनेक दीपक जलाकर प्रकाश किया पर भीतर ईश्वर ने जो अखड दीप प्रज्वलित कर रखा है, उससे वह आलोक नही ग्रहण कर सका।

केवल बाहर के मन्दिर, दीपक और रत्न-जवाहरात मनुष्य को आनन्द और प्रकाश नही दे सकते। इसके लिए भीतर की खोज-यात्रा शुरू करनी आवश्यक है। यह यात्रा बाहर की तरह सरल नही है कठिन है। बाहर की यात्रा के लिए भी यात्री को काफी तैयारी करनी पडती है। सर्दी-गर्मी और वर्षा से बचने का प्रबन्ध करना पडता है। जीवन-निर्वाह के लिए सामग्री साथ लेनी पडती है और प्रकृति की अनुकूलता को ध्यान मे रखना पडता है। जब कभी प्रकृति की प्रतिकूलता रहती है, तब खोज का कार्यक्रम स्थगित करना पडता है। उदाहरण के लिए वर्षाकाल मे या जब समुद्र तूफान पर होता हैं, तब तेल की खुदाई आदि के कार्य रोक दिये जाते हैं। जब बाहरी खोज के लिए प्रकृति के नियमो का पालन करना आवश्यक होता है, तब फिर भीतर की खोज के लिए सयम, शान्ति आत्मविश्वास, जागरूकता, धैर्य आदि की कितनी आवश्यकता है, यह खोजी स्वय सोचे।

आज बाहर की खोज-यात्रा जितनी सुरक्षित और भय रहित प्रतीत होती है, भीतर की खोज-यात्रा उतनी ही असुरक्षित और भयप्रद। कारण कि मनुष्य अपने

भीतर से जुडा हुआ नही है। जब तक कोई अपने भीतर से जुडता नही, तब तक वह सुरक्षित और अभय नही बनता। अपने आपको सुरक्षित, अभय और प्रशान्त बनाने के लिए भीतर की खोज-यात्रा शुरू करनी होगी। यदि यह यात्रा एक बार शुरू हो गयी तो फिर वह बहुत सरल है, सीधी है। तो आइये, हम आज से ही अपने भीतर मे जुडने का अभियान आरम्भ करें। वही हमे ईश्वर मिलेगा, ईश्वरानुभूति होगी।



४ मूल को सींचिए शाखायें स्वयं लहलहा उठेंगी

जब कभी आप अपने को असहाय और निराश महसूस करें तो घबरायें नही, आस्था और विश्वास की जडो से चिपके रहे। कोई व्यक्ति बाहरी रूप से कितना ही आकर्षक और लुभावना क्यो न लगे, यदि उसकी आन्तरिक मजबूती और पकड नही है तो उसका सारा सौंदर्य क्षणिक है, शीघ्र ही मुरझा कर नष्ट होने वाला है। इसके विपरीत पतझड मे ठूठ रूप मे खडे वृक्ष को देखिये, वह कितना कुरूप और आकर्षण रहित है। फिर भी उसे अपने अस्तित्व पर गहरी आस्था है और विश्वास है भावी जीवन की हरियाली पर। इसी आस्था और विश्वास के बल पर पतझड से वसत महकता है और रग-रग मे नव जीवन का, नये रक्त का सचार हो उठता है।

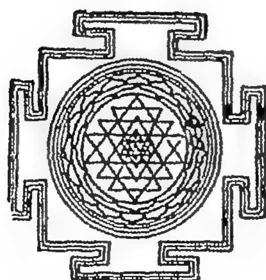
लोग कहते हैं आज का व्यक्ति अधिक तार्किक बन गया है और इसी कारण वह शकालु तथा सशयी भी हो गया है। मन मे किसी वस्तु या पदार्थ को जानने की जिज्ञासा या शका उठना बुरा नही है। ज्ञान को नि शक बनाने के लिए यदि शका सहायक बनती है तो वह वरेण्य है, पर यदि उससे आस्था हिलती है विश्वास डिगता है और जीवन-तन्तु टूटता है तो उसका सम्बल हितकर नही कहा जा सकता।

आस्था और विश्वास का निवास शरीर मे न होकर मन मे है, शाखाओ मे न होकर जड मे है, अत शरीर के बाहरी बनाव-सिंगार से रस नही मिलता, रस मिलता है मन के रन्ध्रो से। मन निर्मल और स्वस्थ बना रहे, एकाग्र और स्थिर बना रहे, प्रकाशमान् और जागरूक बना रहे। इसके लिए आवश्यक है गहरे उतरा जाय, तप, ध्यान और समाधि से मन की वृत्तियो को सींचा जाय।

एक छोटे से बीज मे विशाल वट वृक्ष बनने की क्षमता निहित है। यही बात मन की है। बीज को यदि अभीष्ट मिट्टी, हवा, रोशनी और पानी का सहयोग मिल जाय तो वह अकुरित होकर वृक्ष के रूप मे विकसित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार यदि मन को अनुकूल आधार मिल जाय तो वह महान् बन जाता है। वस्तुत महानता का सम्बन्ध शरीर की लम्बाई-चौडाई से न होकर मन की मजबूती और शक्ति से है। शरीर का विकास तो एक स्थिति पर आकर रुक जाता है पर मन की चेतना का विकास उत्तरोत्तर होता रहता है और अन्ततोगत्वा वह मन से परे

परमात्म शक्ति के रूप मे परिणत हो जाता है। साधारण पुरुष और महापुरुष मे जो अन्तर है, वह शरीर का न होकर मन का है। मन की गति बडी विचित्र है। वह विष भी है और अमृत भी, व्यष्टि भी है और समष्टि भी, अगार भी है और शृ गार भी। उसे किस ओर प्रवृत्त करना, यह स्वय व्यक्ति की जागरूकता पर निर्भर है।

आज का व्यक्ति अधिक भयातुर और चचल है। उसके जीवन मे इतनी अधिक फिसलन है कि वह मूल धरातल को पकड ही नही पाता। नीव की मजबूती का अहसास किये बिना ही वह शिखर की ऊँचाई को छूना चाहता है, मूल को सीचे बिना ही वह रस भरे फल चखना चाहता है और इसी आपाधापी मे वह बेतहाशा दौडता रहता है। स्थिरता की बात करता है पर अस्थिरता की मुद्रा मे, मूल्यो की चर्चा करता है पर मूल्यहीनता के माहौल मे, प्रतिबद्धता की दुहाई देता है पर स्वय अपने से असम्बद्ध होकर। यह स्थिति व्यक्तित्व को तोडने की स्थिति है, जोडने की नही। जब तक व्यक्ति अपने पास रही हुई अमृत-गगरी को छोडकर दूरस्थ सागर के लिए भटकेगा, तब तक यह स्थिति बनी रहेगी। आवश्यकता है अपने भीतर छलकते रस को आत्मसात करने की।



५ वृद्धावस्था : वर्धमानता की प्रतीक

मानव जीवन की तीन मुख्य अवस्थाएँ हैं– बचपन, जवानी और बुढापा। इन तीनो अवस्थाओ का अपना–अपना महत्त्व है। बदलते सामाजिक मूल्यो और तकनीकी विकास ने भारतीय परम्परा की सयुक्त परिवार प्रथा को काफी झकझोर दिया है। आर्थिक दबाव के कारण अब सयुक्त परिवार की प्रथा गाँवो मे भी टूटने लगी है। महानगरीय सभ्यता के विकास ने ग्रामीणो को भी नगर की ओर भागने के लिए प्रेरित और विवश किया है। फलस्वरूप वृद्ध लोगो की समस्यायें पहले की अपेक्षा अधिक जटिल बन गयी हैं।

भारतीय जीवन पद्धति मे वृद्ध सदैव आदर और श्रद्धा के पात्र रहे हैं। शारीरिक दृष्टि से यद्यपि वृद्धावस्था मे व्यक्ति के सवेगो, बुद्धि, स्मृति, प्रत्यक्षीकरण, शारीरिक क्रिया आदि मे कमी आ जाती है तथापि ज्ञान और अनुभव मे बढोतरी होती रहती है। वृद्ध का सबध क्षति से न होकर वृद्धि से है। यह वृद्धि केवल वय की न होकर अनुभव, ज्ञान, तप, साधना, निरीक्षण, परीक्षण आदि सब की है। पर आज सामान्यत ऐसा देखा और सुना जाता है कि कई परिवारो मे वृद्धो की स्थिति आदरणीय और उपलब्धिमूलक न होकर उपेक्षणीय और भारभूत बनती जा रही है। वृद्ध स्त्री–पुरुष फालतू और अनुपयोगी समझे जाने लगे हैं। यह स्थिति अवश्य ही चिन्तनीय है।

आज हमारे समाज मे वृद्धावस्था के दो चरण हैं। जो लोग सरकारी अथवा गैर सरकारी सस्थानो मे कार्य करते है, वे 55 अथवा 58 वर्ष की आयु मे काम–काज से सेवा निवृत्त कर दिए जाते है यद्यपि उनमे कार्य करने की क्षमता व सक्रियता बनी रहती है। ऐसे लोग काम के अभाव मे एकाकीपन महसूस करते है और उनके लिए अवकाश का समय बिताना कठिन हो जाता है। अत यह आवश्यक है कि ऐसे लोगो का सर्वेक्षण कर उनकी क्षमता एव अभिरुचियो का पता लगाया जाए और उनके समय का सदुपयोग समाज–सेवा मे किया जाए। अच्छा तो यह हो कि ऐसे लोगो के लिए सेवा निवृत्त होने से पहले कम से कम तीन माह का एक प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रारम्भ किया जाए।

वृद्धावस्था का दूसरा चरण वह है जब वृद्ध व्यक्ति अपनी शारीरिक एव यदाकदा मानसिक सक्रियता भी खो बैठता है। ऐसे वृद्ध स्त्री–पुरुषो का उपयोग

समाज-सेवा मे नही किया जा सकता वरन् इसके विपरीत समाज का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उनकी सेवा और देखभाल करे। पाश्चात्य देशो मे तो वृद्ध स्त्री-पुरुषो के लिए काफी सख्या मे वृद्ध-आश्रम है जहां आराम मे वृद्धावस्था विताई जा सकती है। पर हमारे देश मे ऐसे आश्रमो की वडी कमी है। भारतीय आश्रम-व्यवस्था मे गृहस्थाश्रम के वाद वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था है जिसमे व्यक्ति अपने कामकाज और व्यापार से निवृत्त होकर समाज-सेवा मे प्रवृत्त होता है। सरकारी और गैर सरकारी कर्मचारी तो नियमानुसार अपने कामकाज से निवृत्त हो जाते हैं पर स्व-व्यवसाय मे लगे हुए लोगो के लिए कामकाज से निवृत्त होने का कोई अनिवार्य नियम नही है। वानप्रस्थाश्रम का विधान इसके लिए स्वैच्छिक व्यवस्था देता है। पर इसकी क्रियान्विति नही के वरावर होती है अत यह आवश्यक है कि स्व-व्यवसाय मे लगे हुए लोग स्वय निवृत्ति लेकर एक आयु के वाद सेवा-कार्यो मे प्रवृत्त हो।

वृद्धावस्था जीवन के अनुभवो का निचोड है अत वृद्ध स्त्री-पुरुषो को अपने मे कभी भी हीन भावना नही लानी चाहिए। उन्हे अपना दृष्टिकोण रचनात्मक रखना चाहिए। प्राय यह देखा जाता है कि अधिकाश वृद्ध स्त्री-पुरुष या तो अतीत मे जीते हैं या भावी चिन्ता से ग्रस्त रहते हैं। उन्हे वर्तमान मे जीते रहने का अभ्यास करते रहना चाहिए। जो समय के साथ अपना समायोजन कर लेता है, काल उसके लिए कला वन जाता है। जीवन मे विवेकपूर्ण सतुलित दृष्टि का विकास कर वृद्ध व्यक्ति को अपनी जीवन-पद्धति तथा दिनचर्या इस प्रकार नियोजित करनी चाहिए कि वह दूसरो के लिए भारभूत व वाधा न वने। जहा तक वन सके छोटा-मोटा काम तो स्वय करना चाहिए। जैसी अपनी क्षमता व योग्यता हो, उसका लाभ परिवार और समाज को वरावर देते रहना चाहिए। वह परिवार मे रहते हुए भी अपने वडप्पन का भार पारिवारिक सदस्यो पर न लादे। अपने को वह कमलवत् रखे।

सामान्यत देखा जाता है कि वृद्ध व्यक्ति प्राय मृत्यु से भयभीत वना रहता है। यह स्थिति आत्म-विश्वास और आध्यात्मिक भावना की कमी के कारण वनती है। मृत्यु तो एक न एक दिन निश्चित है, फिर उससे डरना क्या ? मृत्यु को यातना और यत्रणा न मानकर साधना और मत्रणा माना जाए। मृत्यु तो वस्तुत नये जीवन की शुरूआत है। पुराने वस्त्र को वदलकर नये वस्त्र को धारण करने की प्रक्रिया का नाम है—मृत्यु। अत इसकी तैयारी के लिए सदैव कषायो को मद करने का अभ्यास करते रहना चाहिए। इसीलिए सथारा अथवा समाधि मरण का विशेष विधान है।

वृद्धावस्था जीवन की पूर्णता की ओर वढने का उपक्रम है। जार्ज वर्नार्डशा ने इस सवध मे अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि जीवन के असली आनन्द

की यात्रा तो साठ वर्ष के बाद शुरू होती है। इसके पूर्व तो व्यक्ति भाग दौड कर केवल सीढियाँ बनाने मे लगा रहता है। इन सीढियो को पार कर जीवन की सफलता का सच्चा आनद तो वृद्धावस्था मे ही अनुभूत किया जा सकता है। आश्रम व्यवस्था मे सन्यास की अवस्था इसी कोटि की है जब व्यक्ति सासारिक माया-मोह से अलग हटकर अपने को स्वामी नही वरन् सम्यक् न्यासी मानता है। इस अवस्था मे सब प्रकार की विकृतियो से हटकर उसे प्रकृति के निकट आना चाहिए। प्रकृति यानि स्वभाव-स्वभाव यानि धर्म। अपने को पहचानने की सही खोज का अवसर प्राप्त होता है इस अवस्था मे। अत उसे प्रकृति के कण-कण मे सौन्दर्य की अनुभूति करना चाहिए। इस अवस्था मे उसकी बाह्य इन्द्रियो का भले ही क्षरण होता हो पर उसकी आन्तरिक सवेदनाएँ अधिक सजग और प्रज्ञावान हो उठती हैं। यदि वह अपने मे विवेक जागृत कर पाता है तो वह जरा का अनुभव नही करता।

हमारे यहाँ पुराने कर्मों को नष्ट करने की प्रक्रिया को निर्जरा कहा गया है। निर्जर का अर्थ है देवता। देवता के लिए कहा जाता है कि वह बूढा नही होता। इसका प्रतीकार्थ यही है कि जो निर्जरा की बाह्य और आभ्यतरिक प्रक्रियाओ से गुजरता है अर्थात् तप करता है वह कभी जरावस्था को प्राप्त नही होता। वह सतत जागरूक और सवेदनशील बना रहता है। इसी अर्थ मे वृद्धावस्था क्षयमानता की नही, वर्धमानता की प्रतीक है।



६ मृत्यु को मंगल में बदलें

जीना जैसे एक कला है, वैसे मरना भी एक कला है। जो लोग यह कला नही जानते वे जीते हुए भी मृत हैं और जो यह कला जानते हैं, वे मृत्यु को प्राप्त होते हुए भी जीवित है। जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है ही, फिर हाय-हाय करते हुए क्यो मरा जाय ? मृत्यु दार्शनिको की दृष्टि मे, जीवन का विनाश नही वरन् नये जीवन का प्रारम्भ है। आपने बीज देखा होगा। जब वह खेत मे बोया जाता है, क्या अपने को मिट्टी से अलगाये रखता है ? जब तक उसमे और मिट्टी मे अलगाव है, तब तक वह अकेला है, शक्तिहीन है, रसहीन है। उसे शक्ति और रस मिट्टी मे घुलने, सडने और मिटने पर ही मिलते हैं, इसी प्रक्रिया से गुजरने के बाद वह अकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। अकेला होकर भी अनेक बीजो का जनक बन जाता है। उसमे यह क्षमता और नया जीवन कहां से आया ? घुलकर ही, मिटकर ही। यदि बीज अपने को मिट्टी मे नही मिलाता तो क्या वह वृक्ष बन जाता ? अनेक बीज पैदा करने की क्षमता प्राप्त कर पाता ?

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। उसका मुस्कराते हुए स्वागत करने मे ही जीवन का विकास है, मन की प्रसन्नता है। क्या आप परिवर्तन को नकार कर सुख अनुभव कर सकते हैं ? आगन मे खेलता हुआ बालक हमे प्रिय लगता है पर क्या हम वर्षों तक उसे उसी स्थिति मे देखना पसन्द करते हैं ? बच्चे की तुतलाहट हमारे मन को गुदगुदाती है, पर क्या हम उसे निरतर तुतलाते रहना ही देखना चाहते हैं ? नही, कदापि नही। हम बच्चे मे निरन्तर विकास की ही कामना करते है। यदि किसी कारण यथासमय उसका अनुकूल विकास नही होता तो हम चिन्तित हो उठते हैं और कुशल चिकित्सक से उसका उपचार कराते हैं।

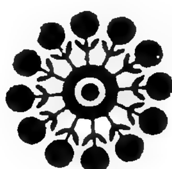
जब हम एक बच्चे के बाह्य विकास के लिये इतने सचेत रहते हैं तब फिर अपने भीतरी विकास के लिये सचेतन क्यो नही होते ? हमारा भीतरी अश बडा जटिल है। उसमे नाना सकल्प, विकल्प और उद्वेग हैं। बाहरी विकास की तो अपनी एक सीमा है, उससे आगे वह बढता नही पर भीतरी विकास की अनन्त सभावनायें हैं। भीतरी खजाना भरा पडा है। उसे खोलने की कु जी हाथ लग जाय तो जीवन सार्थक बन जाय। इसके लिये प्रयत्न करके देखें। ऋषि-महर्षियो,

सन्त-महात्माओ और गुरुजनो का मार्गदर्शन बडा सहायक बनता है इस दिशा मे । उनका सान्निध्य मृत्यु की कला सिखा सकता है, मृत्यु को मगल मे बदलने का मत्र दे सकता है ।

कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध के पास एक दुखियारी स्त्री गौतमी, अपने मृत बेटे को लेकर आयी और निवेदन करने लगी-भगवन् ! मेरा यह लाडला सो गया है । लोग कहते हैं—यह मर गया है पर मैं कहती हूँ यह गहरी नीद मे सोया है । किसी को जगाने की कला आती हो तो यह जाग जाये ! भगवन् ! आप इसे जगाइये । भगवान् बुद्ध उसके अज्ञान पर मुस्कराये और बोले—तुम जाकर कही से एक मुट्ठी सरसो ले आओ । गौतमी के चेहरे पर मुस्कान बिखर गई । वह बोली मैं अभी लेकर आती हूँ । गौतम बुद्ध ने धीरे से कहा—पर एक शर्त है, सरसो के दाने उस घर से ही लाना, जहाँ कोई मरा न हो । गौतमी ने विनम्र होकर कहा—ऐसा ही होगा भगवन् !

गौतमी दिन भर घूमती रही । सरसो के दानो की कमी नही थी । मुट्ठी भर क्या, गाडियाँ भर मिल गये थे दाने, पर ऐसा कोई घर नही था जहाँ कोई मरा न हो । किसी के घर मे बाप मरा था तो किसी की माँ, किसी का भाई मरा था, तो किसी की बहिन । एक भी घर ऐसा नही जहाँ कोई मरा न हो । गौतमी हिम्मत हार कर भगवान् के चरणो मे लौट आई और आप बीती कह सुनाई । बुद्ध ने उसे समझाते हुए कहा—जिसने जन्म लिया है, वह तो मरेगा ही । मृत्यु अनिवार्य है, उससे डरो मत । उससे मैत्री करो, उसे मगलमय बनाओ ।

मृत्यु मगल कब बन सकती है ? जब जीवन मे समता आये, जब हृदय मे ज्ञान का प्रकाश फूटे, जब किसी के प्रति न राग रहे और न द्वेष । समाधि और समभाव की स्थिति मे जो मृत्यु आती है, वह ऐसी स्थिति दे जाती है कि फिर जन्म लेना ही नही पडता । जब तक यह स्थिति नही आती, तब तक अज्ञानी जीव मृत्यु से भय खाता रहता है और जन्म-मरण के भव-चक्र मे घूमता रहता है । मृत्यु अमरता का प्रवेश द्वार है, परमानन्द की सीढी है । ऐसा समझ कर किसी की मृत्यु पर शोक न करो और न अकाल मृत्यु की इच्छा करो ।



७ आधुनिकता काल में नहीं, दृष्टि में

आज चारो ओर आधुनिक बनने की होड सी लगी हुई है। खानपान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, चाल-ढाल, पहनावा सब मे परम्परा को नकारने और आधुनिक बनने की प्रवृत्ति को बढावा देने की हवस तीव्र होती जा रही है। फल-स्वरूप आधुनिकता के नाम पर कृत्रिमता, यान्त्रिकता, कामुकता और दिखावे को जीवन-स्तर के मानदड के रूप मे स्वीकारा जाने लगा है। निश्चय ही यह स्थिति भ्रामक और अनिष्टकर है। हमे आधुनिकता मे निहित दृष्टि को समझने की जरूरत है।

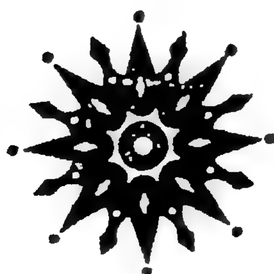
कोई भी क्षण नितान्त निरपेक्ष नही होता। वह अतीत से जन्म लेता है और भविष्य को जन्म देने की क्षमता अपने मे समेटे रहता है। उस क्षण की विशेषता स्थिति मे न होकर गति मे निहित रहती है। पुन. पुन नवीन बनने की विकासात्मक क्षमता ही उसका अपना वैशिष्ट्य है। वह अतीत के ग्राह्य अश से पुष्ट और भविष्य की आशा-भूमि से तरोताजा बना रहता है। इस नाते आधुनिकता का न तो अतीत से और न भविष्य से विरोध है। हाँ, उससे विद्रोह और क्रान्ति-धर्मिता के तत्त्व अवश्य सक्रिय बने रहते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक क्षण आधुनिक होता है। पर जब चिन्तन-क्षण मे कोई नई दृष्टि नही होती तो वह नवजात होकर भी पुराना और बासी हो जाता है। सक्षेप मे आधुनिकता का निवास किसी काल मे न होकर नवनवोन्मेषशालिनी दृष्टि मे होता है।

आधुनिकता की यह दृष्टि बाहरी पर्यावरण को प्रभावित करने की अपेक्षा मनुष्य के अन्तर्जगत को अधिक प्रभावित करती है। दुर्भाग्य से औद्योगिक क्रान्ति और तकनीकी विकास ने भौतिक सुख-साधनो को विशेष महत्त्व देकर मनुष्य की अन्तश्चेतना को उपेक्षणीय बना दिया है और जीवन मे भौतिक सुख-साधनो के माध्यम से इन्द्रिय-विषयो के सेवन की होड और उससे उत्पन्न अतृप्ति, सत्रास, घुटन, कुण्ठा, एकाकीपन को आधुनिकता का जामा पहना दिया है। मनुष्य की पाशविकता और पशुता को सतुष्ट करने वाले साधनो के उत्पादन और सग्रह मे अग्रणी देशो को आधुनिक और सभ्य मानने की प्रवृत्ति ने मनुष्यता को अवमानित और उपेक्षणीय बना दिया है।

हमे स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य का जीवन केवल उसका शरीर नही है, वह केवल अपने लिये नही जीता। ज्यो-ज्यो दूसरो को जिलाने के लिये स्वय के जीवित रहने की भावना का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो पशुता के ऊपर मनुष्यता की विजय होती चलती है। सयम, पुरुषार्थ और साधुता की यह शक्ति ही मनुष्य मे इन्द्रियपरायणता के स्थान पर जितेन्द्रियता, पर-नियन्त्रण के स्थान पर स्व-नियन्त्रण और विरोधी परिस्थितियो मे सामजस्य और सतुलन कायम करने की सामर्थ्य पैदा करती है। इस सामर्थ्य और दृष्टि को ही आधुनिकता माना जाना चाहिये।

इस दृष्टि से आधुनिकता किसी काल खड की उपज नही, आन्तरिक शुचिता और कठोर साधना का फल है। आधुनिक युग मे जो विभिन्नवाद सामने आये हैं, उनके प्रवक्ता भौतिक और वाहरी पर्यावरण को देखने-परखने के ही आदी रहे हैं। उनकी पहुँच मनुष्य की वाहरी जरूरतो को पूरा करने तक ही रही है। उसकी आन्तरिकता को. मनुष्यता को न वे छू पाये हैं, न समझ पाये हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा व्यक्त किए गये विचार आज पचास-साठ वर्षों मे ही चूक गए हैं। वे अपनी प्रासगिकता खो वैठे हैं जवकि महावीर, बुद्ध जैसी मनीपा के विचार आज भी प्रासगिक और प्रेरक हैं।

आधुनिकता के नाम पर प्रचलित नारो एव वादो मे न उलझ कर हमे मनुष्य मे जो सर्वोच्च है, उमे उपलब्ध करने के प्रयत्नो के लिये समर्पित होना चाहिये। यही वास्तविक आधुनिक भाववोध है।



८ आधुनिकता विचारों में आये

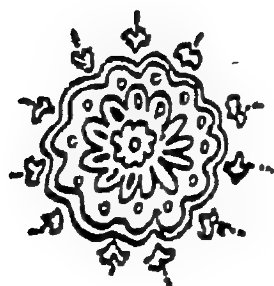
आज हर व्यक्ति आधुनिक बनने मे गौरव अनुभव करता है। आधुनिक बनने का अर्थ है, विचारो मे क्रान्ति, समसामयिक परिस्थितियो के प्रति जागरूकता और अपने राष्ट्रीय परिवेश और सास्कृतिक दाय के प्रति सजग आस्था। पर तथाकथित आधुनिक बनने वाले लोग आधुनिकता के इन तत्त्वो को आत्मसात् किये बिना ही आधुनिकता का आवरण ओढे रहते हैं। वे आधुनिकता को मन से सम्बद्ध न मानकर तन से सम्बद्ध मानते है। फलस्वरूप आधुनिकता उनके लिये फैशन की तरह विविध रूप बदलकर आती है। विचार क्रान्ति की तरह शक्ति और स्फूर्ति लेकर प्रकट नही होती। ऐसे लोग भौतिक समृद्धि, इन्द्रिय-सुख और जीवन को वैज्ञानिक आविष्कारो से प्राप्त विलासपूर्ण सुविधाओ से सम्पन्न बनाने मे ही आधुनिकता को साक्षात् करना मानते है। जो लोग विचार-जगत् मे अन्धविश्वासो, प्रगति-बाधक रूढियो और प्रतिगामी शक्तियो का विरोध करके भी आचार-व्यवहार मे, रहन-सहन मे विशुद्ध भारतीय परिवेश और लोक परम्परा से जुडे हुए हैं, वे उन्हें आधुनिक नही लगते। पर जो आधुनिक साज-सामान और आरामदायक विलासपूर्ण सामग्री से अपनी जिन्दगी को नया रग-रूप देते है और विचारो मे दकियानूसी, रूढि-पालक, जातिवाद, सम्प्रदायवाद और सकीर्णताओ मे ग्रस्त हैं, वे उन्हे आधुनिक लगते हैं।

आधुनिक और आधुनिकता को लेकर यह विरोध और द्वन्द्व केवल गृहस्थो तक ही नही, सन्त-महात्माओ तक व्याप्त हो गया है। जिन्होने दैहिक सुख-सुविधाओ और सासारिक भोग-लिप्सा की प्रवृत्ति को छोडकर आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की निष्काम भावना से सन्यास ग्रहण किया है, निवृत्ति-पथ अपनाया है, वे भी आज भौतिक सुख-सुविधाओ और वैज्ञानिक उपकरणो से प्राप्त आरामतलब जिन्दगी का सपना लेने लगे है, उसे प्रत्यक्ष करने के लिये बौद्धिक तर्क देने लगे हैं। यह स्थिति निश्चय ही चिन्तनीय है।

जैसा कि कहा जा चुका है, आधुनिकता कोई शारीरिक बनाव-शृगार या दैहिक प्रसाधन नही है। यह एक मानसिक वृत्ति और साहसपूर्ण विचार-क्रान्ति है। भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, सन्त कबीर, गुरु नानक, महात्मा गाँधी आदि महान

पुरुष जीवन-व्यवहार और रहन–सहन के तौर–तरीको मे अत्यन्त सादगी वरतते हुए भी तथाकथित आधुनिक कहे जाने वाले विचारको से कोसो आगे थे। कहना चाहिये कि आधुनिकता तभी प्रकट होती है, जब समाज मे व्याप्त जड परम्पराओ को झकझोरा जाता है। धर्म, त्याग, तप और पूजा के नाम पर व्याप्त आडम्बर और प्रदर्शन के विरुद्ध आवाज उठाई जाती है। समाज के पद–दलित, अस्पृश्य, आर्थिक विपन्नता और पिछडेपन से ग्रस्त लोगो को मानवीय सहानुभूति का स्पर्श देकर गले लगाया जाता है। आत्मा के चरम-विकास के लिये उन्हे हर सभव साधन और सुविधा तथा पुरुपार्थ करने का अवसर प्रदान किया जाता है।

यह दु ख की वात है कि आज आधुनिकता के नाम पर घर वाजार वनते जा रहे हैं, धर्म-स्थान अलकार कक्ष वनते जा रहे है और तथाकथित धार्मिक कहे जाने वाले अपने जीवन-स्तर और रहन-सहन के तरीको को विज्ञान के उपकरणो के आश्रित करते जा रहे हैं। हमारी दृष्टि से वास्तविक आधुनिकता का स्थान विचार-जगत् है। विचारो की गति प्रतिगामी और अधोमुखी नही होनी चाहिये। आधुनिकता से सम्वलित विचारो मे पारम्परिक मूल्यो, सास्कृतिक दाय और परिवेश के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव नही वरन् सवेदना और सहानुभूति का साहचर्य होना चाहिये। यह तभी सभव है जव आधुनिकता आचार तक सीमित न रहे, वह विचारो मे आये।



६ स्वतन्त्रता और मानव-मूल्य

भारतीय मनीषियो और विचारको ने स्वतन्त्रता को जीवन के चरम मूल्य के रूप मे स्वीकार किया है। उन्होने आत्म चैतन्य को सभी प्रकार की विकृतियो और आवरणो से मुक्त करने मे परम स्वातन्त्र्य भाव की अनुभूति की है। इस अनुभूति मे मानवीय आत्म-कर्तृत्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

स्वतन्त्रता की अवधारणा पूर्ण मनुष्यता की प्राप्ति की अवधारणा है। पूर्ण मनुष्यता ऐन्द्रिय इच्छापूर्ति और देश-कालगत सीमाओ मे बन्धकर नही रहती। अत उसका स्वातन्त्र्य भाव केवल राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने तक सीमित नही है।

स्वतन्त्रता स्वतन्त्र होने का भाव है। 'स्वतन्त्र' शब्द 'स्व' और 'तन्त्र' इन दो शब्दो से मिलकर बना है। 'स्व' का अर्थ है अपना और 'तन्त्र' का अर्थ है शासन, नियम अथवा व्यवस्था। जहा अपना शासन अथवा नियम चलता हो, उसे स्वतन्त्र कहा जाता है। हमारे देश मे 15 अगस्त, 1947 के पूर्व जो शासन व्यवस्था थी, उसका तन्त्र हमारे हाथो मे नही था। उसका शासन और नियमन ब्रिटिश पार्लियामेन्ट तथा उसकी प्रतिनिधि सरकार द्वारा होता था। देश के स्वतन्त्र होने पर यह व्यवस्था बदल गई और भारतीय सविधान के अन्तर्गत हमारे अपने नियम और कानून बने। राजनैतिक दृष्टि से हम पूर्ण स्वतन्त्र हो गये। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये विभिन्न स्तरो पर जो सघर्ष छिडा उसमे हमने स्वतन्त्रता को एक मानवीय मूल्य के रूप मे स्वीकार किया। इस मूल्य के साथ त्याग, बलिदान, निर्भीकता, समर्पण, सेवा, श्रम, भ्रातृभाव जैसे विविध मानवीय मूल्य स्वत जुटते चले गये।

पर विडम्बना यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'स्वतन्त्रता' हमारे वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रो मे मूल्य (Value) बनकर न रह सकी। हमारी दृष्टि स्वतन्त्रता के उपयोग पर केन्द्रित न रह कर स्वतन्त्रता के उपभोग पर अधिक केन्द्रित रही। फलस्वरूप हम उसे 'मूल्य' के स्थान पर कीमत (Price) समझते रहे। किसी वस्तु या विचार को मूल्यवत्ता प्रदान करने मे त्याग, बलिदान और निस्वार्थ सेवा की भावना प्रधान रहती है, किन्तु जब परमार्थ के स्थान पर स्वार्थ, त्याग के स्थान पर भोग, सेवा के स्थान पर सत्ता, कर्तव्य के स्थान पर अधिकार

की भावना घर करने लगती है, तब समझा जाना चाहिए कि हम उस वस्तु या विचार की 'कीमत' वसूल करना चाहते हैं।

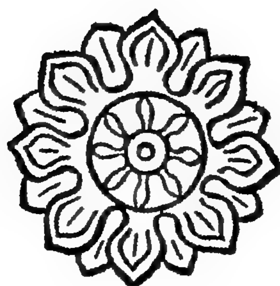
आज ऐसा लगता है कि हमने स्वतन्त्रता का 'उपयोग' करने की बजाय उसका 'उपभोग' करना अधिक सीखा है। इसीलिये स्वतन्त्रता के नाम पर जीवन, समाज और प्रशासन के हर क्षेत्र मे अनियन्त्रित उच्छृखला और असन्तुलन है। जुडाव की जगह बिखराव, सवेदना की जगह उत्तेजना और अनुराग की जगह आग है। जीवन-यात्रा को सरल, सुगम और निरापद बनाने के नये-नये साधन जुटाने पर भी यात्रा अधिकाधिक वक्र, दुर्गम और भयावह बनती जा रही है। आज का जीवन वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, नैतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रो मे विविध प्रकार की दुर्घटनाओ से ग्रस्त है। क्षण-प्रतिक्षण बाहरी व भीतरी धरातलो पर एक्सीडेन्ट हो रहे हैं। शक्ति का अपरिमित सचय करके भी आज का मानव सुखी और शान्त नही है। वह तनाव, विग्रह, अविश्वास, असुरक्षा, असन्तोष, कुठा सन्ताप, भय, व्याकुलता जैसे मनोरोगो से घिरा हुआ है। 'आचाराग सूत्र' मे ऐसे व्यक्ति की मानसिकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति अनेक चित्त वाला होता है। वह अपनी अपरिमित्त इच्छाओ को पूरा करने के लिये दूसरे प्राणियो का वध करता है, उसको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाता है, पदार्थों का सचय करता है और जनपद के वध के लिए सक्रिय बनता है। व्यक्ति के लिये कही गयी यह बात आज अनेक सत्तालिप्सु राष्ट्रो पर भी लागू होती है जो स्वतन्त्रता के नाम पर हथियारो की अन्धी दौड मे व्यस्त हैं, सत्ता और सम्पत्ति के केन्द्रीकरण मे निमग्न हैं।

स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता को केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता तक सीमित रखकर मानवीय मूल्य के रूप मे उसकी प्रतिस्थापना नही की जा सकती। उसका उपयोग सामाजिक सद्भाव और आर्थिक समानता की प्राप्ति मे किया जाना आवश्यक है। इसके लिये स्वतन्त्रता की आन्तरिक शक्ति विकसित करनी होगी। इसका विकास 'स्व' अर्थात् अपने पर 'तन्त्र' अर्थात् शासन से सभव है। अपने शासन का अर्थ है—आत्मानुशासन, स्वतन्त्रता के उपयोग का विवेक जागृत करने का भाव, आत्म-निरीक्षण और आत्म-नियन्त्रण। जब आत्मानुशासन का यह भाव जागृत होता है, तब व्यक्ति को अपनी आत्मा जैसी प्रिय लगती है वैसी ही दूसरे की आत्मा भी प्रिय लगने लगती है। इसी बिन्दु से अहिंसा, विश्वबन्धुत्व और विश्वप्रेम की भावना विकसित होती है। इस भावना का विकास होने पर हम अनावश्यक सग्रह से बचने, हक की कमाई को धर्म मानने और उन सब कार्यों का निषेध करने लगते हैं जिनसे किसी को मनसा, वाचा, कर्मणा पीडा पहुँचती हो। विचारो की हठवादिता और दुराग्रह से भी बचने का प्रयत्न रहता है। कर्म और त्याग के बीच समन्वय स्थापित

करने का मार्ग प्रशस्त होता है। विभिन्न सम्प्रदायो और कर्मकाण्डो मे विभक्त धर्म को सम्प्रदायो से ऊपर उठकर वास्तविक मानव धर्म के रूप मे पहचानने का बोध जागृत होता है।

यह नियन्त्रण और आत्मानुशासन सयम और तप के द्वारा सम्भव है। सयम का अर्थ है अपने मनोवेगो पर नियन्त्रण कर मन को अशुभ प्रवृत्तियो से हटाकर शुभ प्रवृत्तियो मे लगाना। अर्थात् रचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करना और तप का अर्थ है—सहनशीलता, निष्काम कर्मयोग और अनासक्त भावना का विकास करना।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता मानवीय मूल्यो का आधार तभी बन सकती है जब हम उसे अधिकार प्राप्ति तक ही सीमित न रखकर कर्तव्याश्रित बनायें। आज की हमारी सारी कार्यप्रणाली का केन्द्र कर्तव्य न होकर अधिकार बना हुआ है। शक्ति का स्रोत सेवा न होकर सत्ता है। प्रतिष्ठा का आधार गुण न होकर पैसा है। जब तक यह व्यवस्था रहेगी तब तक हम स्वतन्त्रता का सही आस्वादन नही कर सकते। हमे इस व्यवस्था को बदलना होगा और इसके लिये चाहिये तप, त्याग, बलिदान, कर्त्तव्य के प्रति अगाध निष्ठा, सेवा कार्यो के प्रति निस्सग लगाव और आत्मोन्मुखी दृष्टि।



१० वीरता-महावीरता की अवधारणा

वीर भावना का प्रत्येक युग और समाज मे आदर रहा है। मानव इतिहास के प्रारम्भिक चरण मे शारीरिक वीरता का विशेष महत्त्व था। यहाँ जीवन की रक्षा तक वीरता सीमित थी। शरीर के विभिन्न अगो—दात, नाखून आदि के द्वारा मनुष्य दूसरो के आक्रमण से अपने को बचाता था, पर सभ्यता और सस्कृति के विकास के साथ-साथ वीरता का क्षेत्र व्यापक बनता गया। अब रक्षा के साधन शरीर के अगो तक सीमित न रहे। मनुष्य ने अपने बुद्धि-बल से हड्डियो, पत्थरो और धातुओ के नानाविध हथियारो का निर्माण किया और जीवन-सघर्ष मे उनके माध्यम से वह अपनी रक्षा करता रहा। कालान्तर मे बारूद के आविष्कार तथा विज्ञान की तकनीकी प्रगति के कारण वीरता प्रदर्शक अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र आविष्कृत हुए और अब तो अणुबम, उद्जन बम जैसे विनाशकारी अस्त्र-शस्त्र जीवन-रक्षा के साधन न रहकर मृत्यु और विनाश के कारक बन गये है।

बढते हुए विज्ञान और तकनीकी प्रगति के साथ-साथ वीरता का स्वरूप भी बदल गया है। अब वीरता शरीरगत या सेनागत न रहकर तकनीकी विकास और अस्त्र-शस्त्रो की होड के साथ जुड गई है। अब वीर वह नही है, जो कूटनीति और दाव पेच लडाने मे माहिर है। अब युद्ध क्षेत्र मे लडकर वीरता का प्रदर्शन नही होता। अब वीर वह माना जाता है जो दूसरो की विवशता का लाभ उठाने की क्षमता रखता हो, जो दूसरो का शोषण कर अपने लाभ-लोभ को बढाता जाता हो, जो दूसरो को पददलित एव आतकित कर अपना रोब गाठ सकता हो, जिसकी मुट्ठी मे पूँजी और पैरो मे धरती बधी हो। वीरता का यह स्वरूप सुरक्षा और शान्ति का नियामक न रहकर अशान्ति, विनाश और मृत्यु का सहचर बन गया है। वीरता की आड मे यह क्रूरता और निर्दयता का खेल है, प्रपच है। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा जाए, आत्मसात् किया जाए उतना ही मानवता का हित और कल्याण है।

पर आज दु ख इस बात का है कि इस तथाकथित वीरता/क्रूरता की दौड मे विकसित और विकासशील राष्ट्र पूरी तैयारी के साथ जुड़े हुए हैं। जिन राष्ट्रो के पास जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ को पूरा करने के साधन भी उपलब्ध नही

है वे भी दौड मे पीछे नही रहना चाहते। वडप्पन का मापदण्ड और पैमाना यह "वीरता" जो बन गई है।

पर सोचने की बात यह है कि वीरता की आड मे पनपती इस क्रूरता, रक्त पिपासा और हिंसा का कही अन्त भी है ? जब-जब युद्ध हुए हैं, उनसे बजाय शान्ति कायम होने के, वैमनस्य और शत्रुता का भाव ही अधिक बढा है। हिंसा ने प्रतिहिंसा को जन्म दिया है और युद्ध के रक्त-बीज ने अनेक सकटो, व्याधियों और विपत्तियो को।

इस प्रकार की वीरता ने हममे भय, आतक, सशय और अविश्वास जैसे निषेधात्मक मूल्यो को ही जन्म दिया है। फलस्वरूप जीवन और समाज मे अलगाव और बिखराव की भावना बराबर बनी रही है, बनी हुई है। जब तक वीरता की धारणा मे आमूलचूल परिवर्तन नहीं किया जाता और उस परिवर्तन को व्यवहार मे ढाला नही जाता, तब तक गुणात्मक मूल्यो का प्रचार और प्रसार नही हो सकता। गुणात्मक मूल्य हैं प्रेम, विश्वास, अपनत्व। जब तक हम अपनी सुरक्षा को बाहरी साधनो से नापते-तोलते रहेंगे, तब तक मूल्य बोध का यह सकट बना रहेगा। सुरक्षा का सम्बन्ध भीतरी ताकत मे है। आन्तरिक वीरता से है। आन्तरिक वीरता का यह भाव कैसे जगे, यही आज का सकट है। भगवान् महावीर ने इस वीरत्व भाव को जगाने का सूत्र देते हुए कहा—जैसे तुम्हे अपने प्राण प्यारे है, वैसे ही दूसरे जीवो को भी अपने प्राण प्यारे है। जैसे तुम सुख से जीना चाहते हो, वैसे ही दूसरे प्राणी भी सुख से जीना चाहते हैं, जैसे तुम्हे सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है, वैसे ही दूसरे जीवो को सुख प्रिय और दु.ख अप्रिय है, ऐसा समझ कर तुम ससार के सभी प्राणियो को अपना मित्र समझो। किसी को भी किसी प्रकार का दु:ख न दो, मन से भी, वाणी से भी और शरीर से भी।[1]

जब मन मे इस प्रकार का भाव जागृत होगा तब व्यक्ति और वस्तु के प्रति रहा हुआ आसक्ति का भाव मिटता चला जावेगा। शरीर और आत्मा का यह भेद-विज्ञान वीरता को महावीरता मे परिणत करता है। यह महावीरता ही सच्ची वीरता है। भगवान् महावीर ने इसी वीरता का साक्षात्कार किया था।

यह वीरता-महावीरता न स्वय को किसी बन्धन मे बाधती है, न दूसरो को अपने अधीन बनाती है। जो किसी कारण बन्धन मे पडे हुए हैं, उन्हे भी मुक्त करने का पथ प्रशस्त करती है यह वीरता। काश, हम इस महावीरता की अवधारणा को आत्मसात करने का प्रयत्न करें। □

---

१ —सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा।
पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीविय पिय॥
—आचाराग २/२/३

११ साधना और साधक

साधना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमे हमारा श्रम, हमारा पुरुषार्थ लगता है। सामान्य स्थिति मे हमारी वृत्तियाँ विकृत और शक्तियाँ सुषुप्त रहती हैं। साधना के द्वारा हम वृत्तियो को सस्कारित और शक्तियो को प्रस्फुटित करते हैं। इस माने मे साधना एक कला है और साधक एक कलाकार।

जिस प्रकार एक कलाकार अनगढ पत्थर मे अपनी कला के बल पर छैनी के द्वारा उसे तराश कर, सौन्दर्यमयी मूर्ति का रूप दे देता है, कुरूप को सुरूप बना देता है, कोयले को हीरे मे परिवर्तित कर देता है, उसी प्रकार साधक अपने यम-नियम और सयम द्वारा अपनी छिपी हुई शक्तियो को प्रकट कर अपनी आत्मा को निर्मल और शक्तिमान बना देता है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि साधना बिन्दु को सिन्धु और अणु को विराट् बनाने की प्रक्रिया है। साधना मनुष्य को विकृति से प्रकृति और प्रकृति से सस्कृति की ओर अभिमुख करती है।

प्रत्येक धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय मे साधना का विशिष्ट महत्त्व है। जहाँ साधना के केन्द्र मे देवता प्रतिष्ठित होता है वहाँ साधक को अपनी शक्तियो को उभारने का विशेष अवसर नही मिलता। वह देवता के समक्ष याचक बन जाता है और उसकी कृपा के बल पर ऊँचा उठना चाहता है। पर जिस साधना मे आत्मा को ही सुख-दु ख का कर्ता और भोक्ता माना गया है वहाँ साधक अपने ही सत्कर्मो से सुखी बनता है और दुष्कर्मो से दु खी। वह किसी परोक्ष सत्ता के हाथ की कठ-पुतली नही वरन् स्वय अपने भाग्य का निर्माता और नियता है।

जब साधक का पुरुषार्थ फलीभूत होता है तब उसका केन्द्र मजबूत होता चलता है। केन्द्र मजबूत होने पर सासारिकता की रेखाएँ परस्पर टकराती नही। साधक अलिप्त बना रहता है। राजनीतिवेत्ता जानते हैं कि जब केन्द्र मजबूत होता है तभी प्रान्तीय शासन ठीक चलता है और प्रशासन मे व्यवस्था तथा नियन्त्रण बना रहता है। साधक का केन्द्र मजबूत होने पर उसका पुरुषार्थ–पराक्रम कही रुकता नही। आत्मा के परमात्मा बनने की प्रक्रिया इसी बिन्दु से शुरु होती है।

सयम मे पराक्रम द्वारा साधक अपने कर्म पुद्गलो को जिन्होने उसकी आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र आदि शक्तियो को आच्छादित कर रक्खा है—नष्ट करने लगता है। जब समस्त कर्म पुद्गल नष्ट हो जाते है तो आत्मा स्वय परमात्मा बन जाती है। आत्मा परमात्मा मे इस प्रकार नही मिल जाती कि उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता। आत्मा के परमात्मा बन जाने पर भी उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकारा गया है। इस दृष्टि से परमात्मा सख्या की दृष्टि से एक नही अनेक हो सकते है, पर गुणो की दृष्टि मे सबके गुण और शक्तियो मे कोई अन्तर नही है।

साधना-पद्धति मे जीवन-मुक्ति का विशेष स्थान है। जिस प्रकार नाटक मे नायक सघर्षो से मुकाबला करता हुआ एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जाता है जहाँ उसे फल की प्राप्ति होना निश्चित हो जाता है। यह 'नियताप्ति' की स्थिति कही जाती है। ठीक इसी प्रकार जब साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अतराय इन चार घाती कर्मो को नष्ट कर देता है, तब उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति मे आत्मा के स्वाभाविक गुणो को नष्ट करने वाले कर्म पुद्गल शेष नही रहते। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र अघाती कर्म हैं जो शरीर से सम्बन्धित होते हैं। ये आत्म गुणो को प्रभावित नही करते।

जिसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया है, उसकी मुक्ति होना निश्चित हो गया है। इस स्थिति मे वह धर्म-नायक अथवा तीर्थंकर के रूप मे लोक-कल्याण के लिये धर्म देशना देता है। इस बिन्दु पर आकर धर्म का लोक सग्राहक रूप प्रकट होता है। ऐसे जीवन-मुक्त पुरुष को 'लोगहियाण', 'लोगपइवाण', 'लोग पज्जोयगराण', 'अभयदयाण', 'चक्खुदयाण', 'बोहीदयाण', 'धम्मदेसयाण', 'धम्मसारहीण' आदि कहा गया है। सक्षेप मे इनका अर्थ है—ऐसे पुरुष लोक के हितकारी हैं, लोक मे प्रकाशमान दीपक के समान उद्योत करने वाले हैं, अभय देने वाले हैं, ज्ञान रूप नेत्र देने वाले हैं, बोधि याने सम्यक्त्व के दाता हैं, धर्म के उपदेशक हैं और धर्म-रथ के सारथी हैं। ज़ब इनके शरीर से सम्बद्ध अघाति कर्म नष्ट हो जाते हैं तब वे सिद्ध बन जाते हैं। यही जीवन का चरम लक्ष्य है। इसे ही मुक्ति कहा गया है। यहाँ न शरीर है न रूप, न भूख है न प्यास, न मोह है न माया। है अखड अव्याबाध अनन्त आनन्द। मुक्ति की यह अवस्था अभाव या रिक्तता की अवस्था नही है। यह जीवन की पूर्णता और समग्रता है।

साधना मे ज्ञान, भक्ति और कर्म पर समान बल दिया गया है। भक्तिवादी परम्परा मे ईश्वर को सब कुछ समर्पित करके उसी की कृपा पर जीना, साधना का मुख्य लक्ष्य है। इसमे व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व नही रहता और उसके पुरुषार्थ

को प्रकट होने का अवमर नही मिलता अत साधना मे एकान्त भक्ति योग का निपेध रहता है।

ज्ञानवादी परम्परा मे ज्ञान को ही प्रधानता दी जाकर क्रिया को महत्त्व-हीन वना दिया जाता है। पर ज्ञान के साथ क्रिया अथवा चारित्र का भी विशेप महत्त्व है। 'पढम नाण तवो दया' मे ज्ञान को प्रधानता देते हुए भी दया अर्थात् आचरण का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

ज्ञान के अभाव मे जो क्रिया होगी वह फलदायी नही हो सकती। क्रिया से रहित जो ज्ञान होगा वह पगु होगा। इसीलिये साधना का प्रमुख सूत्र है—'सम्यक्दर्शन, ज्ञानचारित्राणी मोक्ष मार्ग' अर्थात् मुक्ति का मार्ग है—सही श्रद्धा-पूर्वक तत्त्वज्ञान के साथ धर्म क्रिया करना।

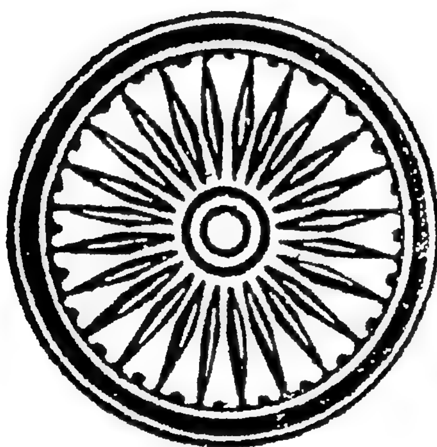
ज्यो-ज्यो विज्ञान की प्रगति हो रही है वाह्य भौतिक ज्ञान तो वढता जा रहा है परन्तु उसके साथ-साथ आत्मा के तत्त्वज्ञान की जानकारी कम होती जा रही है, फलस्वरूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान लुप्त होता जा रहा है। इसके अभाव मे सम्यक्क्रिया अर्थात् चारित्र की आराधना कैसे सम्भव है? यही कारण है कि वर्तमान मे हमारे यहाँ धार्मिक क्रियाएँ रूढिपालनवत रह गई हैं। सामायिक और प्रतिक्रमण 'रूटिन' वन गये है। इन्हे ठीक अर्थों मे समझना वहुत आवश्यक है।

सामायिक का अर्थ है—सम भाव की आय अर्थात् प्राप्ति। सामायिक मे हम अपने आत्म स्वभाव के निकट रहते है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, निन्दा-प्रशसा आदि स्थितियो मे विचलित न हो और समभाव मे रमण करते रहे, यह सामायिक साधना का लक्ष्य है। सामायिक वर्तमान की साधना है। हम आत्मसाक्षी भाव से अपनी प्रत्येक क्रिया को देखते जायें, एकाग्र होते जाये और जागरूक वने रहे। प्रतिक्रमण का अर्थ है—वापस लौटना। हम अपने स्व स्थान से पर स्थान चले गये है अर्थात् क्षमा से क्रोध की ओर, विनय से मान की ओर, सरलता से कुटिलता की ओर, सतोप से प्रलोभन की ओर, तो वापस आये अपने घर की ओर, आत्मा की ओर। अतिक्रमण से प्रतिक्रमण की यह क्रिया हमे अतीत की स्मृतियो मे ले जाकर प्रायश्चित द्वारा आत्मशुद्धि का अवसर देती है और हम अपने मे ऐसी शक्ति सचित कर पाते हैं कि भविष्य मे ऐसी त्रुटियो से वचें।

सामायिक, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान द्वारा हम अपने वर्तमान, अतीत और भविष्य के प्रति जागरूक वनते है, सचेत वनते हैं। इस प्रकार साधना न केवल क्षणजीवी है, न केवल अतीतजीवी है और न केवल भविष्यदर्शी।

इसमे तीनो कालो का युगपद् चिन्तन होने से वह मननप्रवाही और सतत-प्रकाशी है ।

साधना का लक्ष्य अपने आवेग को कम करना, अपने ताप को मिटाना और जागृत अवस्था बनाये रखना है । जब कार या मोटर की बैटरी कमजोर पड जाती है तब उसे चार्ज कराना आवश्यक हो जाता है, ठीक इसी प्रकार हमारी धार्मिक क्रियाएँ आत्मा की बैटरी को चार्ज करती रहती है । हम साधना की क्रियाओ को 'रस्म और रूढि' के रूप मे न ले वरन् 'रूपान्तरण' के रूप मे ले । सच्चे अर्थो मे साधना ताप को प्रकाश में और राग को अनुराग मे रूपान्तरित करती है । हम साधना पथ पर निरन्तर बढते रहे, यही अभ्यर्थना है ।



१२ धर्म : मनुष्यता का सहचर

सामान्यतः लोग धर्म को पारलौकिक तत्त्व मानकर उसकी दिव्यता से अभिभूत होते हैं और जीवन मे उसका आचरण न कर वर्तमान से परे भावी जीवन और अगले जन्म के लिए उसकी उपयोगिता समझते हैं। पर यह दृष्टि एकागी है। वस्तुत धर्म का सबध वर्तमान जीवन और मनुष्य से है। मनुष्य ने अपने चिन्तन, अनुभव और विवेक से मनुष्य के लिए धर्म का आविष्कार किया इसलिए धर्म मनुष्यता का सहचर है। मनुष्यता का विकास धर्म के द्वारा ही सभव है। सहचर का अर्थ है—साथ रहने वाला, साथ चलने वाला। धर्म मनुष्य से अलग नही है। वह उसके विचारो के साथ अनुस्यूत है। इसीलिए शास्त्रकारो ने धर्म को स्वभाव कहा है।

प्रश्न किया जा सकता है कि मानव जीवन का स्वभाव क्या है? क्या अपने से परे जो अनन्त पदार्थ हैं, उनका सचय करना, अपनी इन्द्रियो के माध्यम से उनका आस्वादन करना मनुष्य का स्वभाव है? अनुभव के आधार पर साधको ने बताया कि मनुष्य का स्वभाव आनन्द है, ऐसा आनन्द जो स्थायी है, चिरन्तन है, जो पर पदार्थों पर निर्भर नही है। स्पष्ट है कि ऐसा आनन्द इन्द्रिय सुख मे नही है। वह इन्द्रियो से परे आत्मा का स्वभाव ही है। इस अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करने के लिए जो विशेष अनुष्ठान किये जाते हैं, उन्हे हम धर्म कह सकते हैं।

स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए जो अनुष्ठान किये जाते हैं उनके आधार पर धर्म के दो रूप सामने आते हैं। एक बाह्य धर्म जो व्यवहार पर निर्भर है और दूसरा आन्तरिक धर्म जो आत्मगत है। वीतरागता का भाव इसीसे जुडा हुआ है। इस भाव को प्रगट करने के लिए जो साधना की जाती है, वह धर्म-साधना है। यह मनुष्यता के रक्षण और सवर्द्धन मे सहायक बनती है।

यह साधना अहिंसा, सयम और तप रूप है। अहिंसा भाव की पालना तभी हो सकती है जब हम यह समझ विकसित करें कि मेरे अलावा ससार मे जितने भी प्राणी हैं उनका भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, वे भी अपने सुख-दुःख भोगते हैं और जीवित रहना चाहते हैं। अत मेरा कर्तव्य और धर्म है कि मैं उन्हे किसी प्रकार का कष्ट न दू और जितना सभव हो सके उनके रक्षण, सवर्धन और विकास

सहायक बनूं । इसी परिप्रेक्ष्य मे धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि ...जीवाण रक्खण धम्मो ।' अर्थात् जीवो की रक्षा करना ही धर्म है । जीवो की रक्षा ...भी सभव है, जब हम अपने मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखें, सयम रखें, अपनी आवश्यकताओ को अधिक न बढायें और दूसरो का जो प्राप्य है, उस पर अपना अधिकार न करें, पर पदार्थो के प्रति जो आसक्ति है उसे छोड़ें और अपनी आवश्यकताओ को सीमित कर अपना जो प्राप्य है, उसे भी दूसरो को समर्पित करें । यह त्याग, प्रेम, करुणा, परोपकार और मैत्रीभाव धर्म हैं । इसमे सामाजिकता का विकास होता है । साथ-साथ रहने और चलने की भावना जागृत होती है ।

अपने और अपने इर्द-गिर्द जो प्राणी जगत है उसकी रक्षा और सेवा के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं और इसमे बाधक बनने वाली परिस्थितियो मे समभाव पूर्वक मुकाबला करने मे जो पुरुषार्थ प्रकट किया जाता है, वह तप है । तप के माध्यम से आन्तरिक वीरता को जगाया जाता है, अपने सामर्थ्य को विकसित किया जाता है और अन्याय, अत्याचार के खिलाफ लोक शक्ति जागृत की जाती है । इस प्रकार अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म के आचरण मे प्राणिमात्र को सासारिक दुःखो से ऊपर उठाकर आत्मिक सुख मे स्थिर करने का प्रयत्न किया जाता है । इसी अर्थ मे धर्म धारण किया जाता है । जो सच्चे अर्थो मे धर्म को धारण करता है उसकी चेतना सद्भावो मे रमण करती हुई ऊर्ध्वमुखी बन जाती है । उसे फिर कोई अभाव नही रहता है और न वह विभावो मे भटकती है ।

आज का व्यक्ति स्वभाव के बजाय विभाव मे अधिक जाने लगा है । इसलिए धर्म के नाम पर ढोंग, पाखड, प्रदर्शन और साम्प्रदायिक उन्माद का जोर है । जब समाज की यह स्थिति बनती है, तब धर्म मनुष्यता का सच्चा साथी नही रहता । वह साथ चलने की बजाय मूल तत्त्व को ही चरने लगता है, निगलने लगता है । तब धर्म, अहिंसा, सयम और तप न रहकर हिंसा, परिग्रह और सघर्ष का कारण बन जाता है, ऐसा सघर्ष जो मानवता के लिए अभिशाप बनता है । प्रत्येक युग मे ऐसे तथाकथित धर्म का महापुरुषो मे विरोध किया है । प्रत्येक तीर्थङ्कर और अवतार का आविर्भाव इसी पृष्ठभूमि मे होता है । भगवान महावीर ने 'भगवती सूत्र' मे स्पष्ट कहा है कि ऐसे अधार्मिक आत्माओ का सोते रहना अच्छा है, उनका दुर्बल रहना अच्छा है और जो आत्म-स्वभाव मे रमण करने वाले हैं ऐसे धार्मिको का जागते रहना और बलवान होना अच्छा है —

अत्थेगइयाण जीवाण सुत्तत्त साहू ।
अत्थेगइयाण जीवाण जागरियत्त साहू ।।
अत्थेगइयाण जीवाण बलियत्त साहू ।
अत्थेगइयाण जीवाण दुब्बलियत्त साहू ।।

भगवती १/२/२

पर आज की विडम्बना यह है कि धर्म के नाम पर अधार्मिक आचरण करने वाले जागृत हैं और बलिष्ठ हैं तथा धर्माभिमुख व्यक्ति उदासीन है, निष्क्रिय हैं। यही कारण है कि सगठित रूप से अधार्मिक और हिंसक शक्तियो का मुकाबला नही हो पाता, धार्मिक और अहिंसक प्रयत्नो की सम्मिलित शक्ति प्रगट नही हो पाती और मानव-विरोधी प्रवृत्तियो को रोकने के लिए उनके प्रभाव का जैसा उपयोग होना चाहिए वैसा उपयोग नही हो पाता। अब समय आ गया है कि धार्मिक व्यक्ति और अहिंसक शक्तिया जागें और धर्म पर फैले हुए उन्माद और विष को दूर करें।

धर्म के सम्यक् आचरण के लिए इन्द्रियो की सजगता और पुष्टता आवश्यक मानी गई है। इसी सदर्भ मे शास्त्रकार कहते है जब तक वृद्धावस्था नही आती, जब तक व्याधियो का जोर नही बढता, जब तक इन्द्रिया क्षीण नही होती तब तक विवेकी आत्मा को जो भी धर्म का आचरण करना हो, वह कर लेना चाहिये—

> जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
> जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥
>
> —दशवैकालिक ८/३६

आज विज्ञान के विविध आविष्कारो के फलस्वरूप इन्द्रियो की शक्ति बढ गई है। यदि इस शक्ति का उपयोग अन्तर्मुखी होने मे किया जाय तो धर्म का तेज प्रकट हो सकता है और यदि इनके माध्यम से बाह्य पदार्थों के विषय—सेवन को ही प्रमुखता दी जाती है और बहिर्मुखी वृत्ति ही प्रधान बनी रहती है तो फिर धर्म मनुष्यता का सहचर बनकर नही रह सकता है। भगवान महावीर ने 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे इस सदर्भ मे चुनौती देते हुए कहा है—जैसे पिया हुआ कालकूट विष और अविधि से पकडा हुआ शस्त्र अपना ही घातक होता है उसी प्रकार शब्दादि विषयो की पूर्ति के लिए किया हुआ धर्म भी अनियन्त्रित वेताल के समान साधक का विनाश कर डालता है।

> विसं तु पीयं जह कालकूडं,
> हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
> एसो वि धम्मो विसओववन्नो,
> हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥
>
> —उत्तराध्ययन २०/४४

यह अनुभूत सत्य है कि सदा विषय वासना मे रचा-पचा रहने वाला मनुष्य धर्म के तत्त्व को नही पहचान पाता—

> सयय मूढे धम्मं नाभिजाणई।
>
> —आचारांग ३/१

जो सदा अप्रमत्त भाव मे रहता है वही धर्म का आचरण कर सकता है। धर्म साधना मे प्रवेश के लिए क्षमा, सतोष, सरलता और नम्रता का भाव आवश्यक है। 'स्थानाग' सूत्र मे स्पष्ट कहा है—

चत्तारि धम्मदारा—
मती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे। —स्थानाग ४/४

इन भावनाओ के माध्यम से ही धर्म मनुष्यता का सहचर बन सकता है। आज इस बात की सर्वाधिक आवश्यकता है कि धर्म मनुष्यता के साथ कदम से कदम मिलाकर चले, न कि उसे चरे।



१३ धर्म बनाम धर्माभास

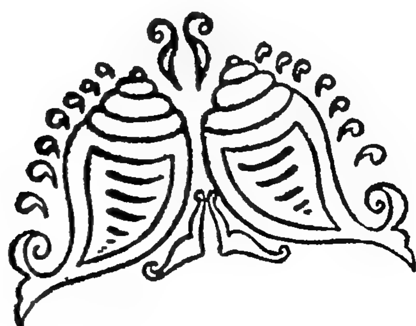
धर्म को विभिन्न दार्शनिको और चिन्तको ने अपने-अपने ढग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। पर इस बात मे सभी सहमत हैं कि वह विचार और अनुष्ठान जो ससार मे हमारी रक्षा करे और स्वभाव को धारण करे, वह धर्म है। दूसरे शब्दो मे वस्तु का स्वभाव धर्म हैं। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्णता है, पानी का स्वभाव शीतलता है, वैसे ही मानव जीवन का स्वभाव आनन्द प्राप्त करना है, ऐसा आनन्द जो अतीन्द्रिय है, आत्मिक है, सुख-दुःख से परे है। अत कहा जा सकता है कि वह अनुष्ठान जो इस आनन्द की प्राप्ति मे सहायक है, वह धर्म है। व्यक्ति और समाज को ध्यान मे रखकर भी धर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है। जो व्यक्ति को क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य आदि मे स्थित करे, वह प्रक्रिया और गुण धर्म है। इन सबकी सम्यक् परिपालना और धारण के लिए समाज की स्थिति का सन्तुलन बने रहना भी आवश्यक है। इस दृष्टि से अपने गाँव, नगर, राष्ट्र, कुल, सघ आदि के प्रति जो हमारे पुनीत और मगल कर्तव्य हैं, उन्हे भी धर्म कहा गया है। व्यक्ति और समाज के धरातल पर प्रतिष्ठित ये धर्म परस्पर पूरक और सहयोगी हैं। सक्षेप मे दूसरो को मन, वचन और काया से ऐसा अनिष्ट न पहुचाना जिसे हम स्वय अपने लिये न चाहते हो, धर्म है।

भर्तृहरि ने धर्म-रहित मनुष्य को पशु कहा है। अर्थात् धर्म ही वह तत्त्व है, जो मनुष्य और पशु को भिन्न सिद्ध करता है। इस दृष्टि से धर्म शरीर की आवश्यकताओ से परे, मन और आत्मा के चैतन्य से सम्बद्ध है। विभिन्न नैतिक सद्गुणो को आत्मसात् करने पर जब चेतन का ऊर्ध्वारोहण होता है, तब धर्माराधन प्रारम्भ होता है। अर्थात् जब भय, क्रोध, ईर्ष्या, लोभ आदि पाशविक वृत्तियाँ शमित होकर उदात्त भावो और सदाचरणो मे ढलती हैं, तब चरित्र का निर्माण होता है। इसलिए चारित्र को धर्म कहा है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ समाज मे भोगवृत्ति और स्वार्थलिप्सा बढने के कारण धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्डो की बढोतरी हुई और 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' जैसे आदेशो की परिपालना मे ही धर्म सीमित कर दिया गया।

आगे चलकर धर्म के नाम पर बलि, आडम्बर, प्रदर्शन और दिखावे मुख्यता ग्रहण करते गये। धर्म आत्मा का स्वभाव न रहकर पर-पदार्थों और बाहरी अनुष्ठानो से जुड गया। जब-जब इन क्रियाकाण्डो और बाह्य आडम्बरो को ही धर्म मानने की प्रवृत्ति मुख्य हुई तब-तब धर्मनायको ने इसके विरुद्ध आवाज बुलन्द की और धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ। आधुनिक युग मे जब धर्म के नाम पर ऐसा धर्माभास कार्ल मार्क्स ने देखा तो उन्होंने उसे अफीम कहा।

परन्तु आज सुख के नाम पर इन्द्रिय-विषयों के सेवन की प्रवृत्ति बढ रही है और इन्द्रिय-सुख को ही लोग वास्तविक सुख मानने लग गये हैं, जबकि वह सुख नही सुखाभास है। ठीक इसी प्रकार, आज बाह्य अनुष्ठानो, पूजा-पद्धतियो, जुलूसो-प्रदर्शनो मे ही लोग धर्म समझने लग गये हैं, जबकि इन्हे धर्म नही धर्माभास कहा जाना चाहिये। अनुष्ठानो की स्थिति खेत की बाड की तरह समझी जानी चाहिये। किसान खेत के चारो ओर बाड इसलिये लगाता है कि उसमे जो फसल पैदा हुई है, उसे कोई क्षति न पहुँचा सके और बाहरी उपद्रवो से उसकी रक्षा हो सके। पर यदि खेत मे कोई फसल ही नही है और किसान बाड की सार-सम्भाल मे ही अपना खून-पसीना एक करता रहे तो उसे क्या कहा जाएगा ? ठीक इसी प्रकार यदि हम अपनी आत्मा के खेत मे रहे हुए उसकी गुण रूपी फसल के लिये विभिन्न अनुष्ठानो रूपी बाड की सार-सम्भाल करें तो युक्तिसगत है, पर आत्मगुणो को तो तिलाजलि देते जाएँ और बाहरी क्रियाकाण्डो मे ही उलझते रहे तथा अपने को धार्मिक समझते-समझाते रहे तो यह आत्म-छलना और प्रवचना ही होगी। हमे खेत की फसल एव बाड मे उचित सामजस्य और सन्तुलन बैठाना होगा। आज की विडम्बना यह है कि फसल गौण हो गई है और बाड प्रधान हो गई है। हमे इस क्रम को उलटना होगा, तभी धर्म का तेज, जीवन और समाज मे निखरेगा।



१४ भावनाओं का चिन्तन, मनन और अभ्यास

मनुष्य विचारशील प्राणी है। इस विचारशक्ति के कारण ही वह प्राणियो मे श्रेष्ठ माना जाता है। विचारो की शक्ति न केवल मनुष्य को महान् बनाती है वरन् अन्य शक्तियो को भी नियन्त्रित और सचालित करती है। तकनीकी विकास के कारण आज यान्त्रिक शक्ति प्रधान बन गई है, उससे जीवन का सुविधा-क्षेत्र विस्तृत हुआ है पर चिन्तन का क्षितिज नानाविध दुविधाओ से आक्रान्त हो गया है। सचार के द्रुतगामी साधनो से जिन्दगी की धडकन तेज और वेगवती हुई है पर इसकी आत्मलय खडित होकर निस्तेज और कुण्ठित हो गयी है। फलस्वरूप हार्दिकता का स्थान यात्रिकता लेती जा रही है। इससे 'परिधि' का विस्तार हो तो रहा है पर 'केन्द्र' उसी अनुपात मे कमजोर बनता जा रहा है। केन्द्र के कमजोर और अस्थिर होने से जो विकास की रेखाए उससे प्रस्फुटित हो रही है वे परस्पर टकराने लग गई हैं। इससे एक प्रकार का द्वन्द्व और तनाव पैदा हो गया है जिसने जीवन को सशयग्रस्त, असुरक्षित, भयप्रद, नैराश्यपूर्ण और भावनाशून्य बना दिया है।

जगत् के रहस्यो को जानने और खोजने के नित नवीन आविष्कार करते हुए आज का बौद्धिक मानस जल, थल, नभ की अतल गहराइयो को नापने और निस्सीम ऊचाइयो को छूने के लिए बेतहाशा भागा जा रहा है, दौडा जा रहा है। उसे क्षण भर भी रुककर अपने 'केन्द्र' की ओर देखने का समय नही है। बहिर्जगत की यात्रा ने उसके अन्तर्जगत के वैभव को नकार दिया है, हार्दिकता के रस-स्रोत को अवरुद्ध कर दिया है। यही कारण है कि इतनी दौड-धूप और वैचारिक यात्रा करने के बाद भी मनुष्य स्वभाव मे स्थित न रहकर विभाव मे विचरण करने लगता है, और तब उसकी यही परिणति होती है। मनुष्य का बडप्पन बहिरात्मा से अन्तरात्मा मे प्रवेश करने में है। पर तथाकथित ज्ञान के अहम् ने उसे शरीर की पाच-छ फीट की ऊचाई मे ही सिमटा कर रख दिया है और इसी बिन्दु पर वह अपने आपको सबसे बडा विचारक और खोजी समझ बैठा है। इसी भूल के कारण आज वह सत्रस्त और दिग्विमूढ है।

इस विमूढता और व्यामोह को तोडने के लिए 'परिधि से केन्द्र' की ओर मुडना होगा, अन्तर्जगत की यात्रा प्रारम्भ करनी होगी, यान्त्रिक शक्ति को हार्दिक

वना प्रधान) शक्ति के अधीन रखना होगा। पर यह सब कैसे हो ? इसकी
क्या क्या है ? यह सब जानना आवश्यक है। आचार्यों ने कहा है—इसका
धार मनोभूमि है, मन मे उठने वाली पवित्र भावना है। 'योग वाशिष्ठ' मे कहा
—"सदा अमृतरूप मे चिन्तन करने मे विप भी अमृत बन जाता है। तथा
मित्रदृष्टि से देखने पर शत्रु भी मित्र रूप मे परिणत हो जाता है।" भगवान
महावीर ने 'आचाराग सूत्र' मे कहा है— 'जे आसव्वा ते परिसव्वा, जे परिसव्वा ते
आसव्वा" अर्थात् जो आस्रव—कर्म प्रवेश के हेतु हैं, वे भावना की पवित्रता से
परिस्रव—कर्म रोकने वाले हो जाते हैं और जो परिस्रव हैं वे भावना की अपवित्रता
से आस्रव हो जाते हैं।

भावनाओ का, मानसिक क्रियाओ का हमारे जीवन-व्यवहार पर गहरा
प्रभाव पडता है। मन मे पवित्र भाव आयें इसके लिए सम्यक् आहार-विहार और
सस्कार महत्त्वपूर्ण घटक का कार्य करते हैं। पर दुःख इस बात का है कि जिस
अनुपात मे ज्ञान-विज्ञान का विकास हुआ है, उस अनुपात मे मानवीय सद्गुण विक-
सित नही हुए है। ज्ञान की दो दिशाए हैं। एक दिशा है—आत्मा या द्रष्टा का ज्ञान
और दूसरी दिशा है—दृश्य जगत् या देह का ज्ञान। आज की शिक्षा पद्धति मे सारा
बल और अभ्यास दृश्य जगत के ज्ञानार्जन पर दिया जाता है फलस्वरूप मस्तिष्क
तार्किक तो बनता है पर अनुभूतिप्रवण नहीं, प्रज्ञावान नही। इस कारण शिक्षा
द्वारा जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है उसका स्व-पर कल्याण मे अभीष्ट
उपयोग नही हो पाता। इसके लिए वैयक्तिक जागरूकता और अभिक्रम के साथ-
साथ सामाजिक के प्रति सहानुभूति, द्रवणशीलता और दायित्व-बोध की भावना का
विकास होना आवश्यक है।

भावना प्रत्येक कार्य मे प्रेरक शक्ति का काम करती हैं। धार्मिक क्रिया का
आधार भी भावना होती है। भावना के मुख्य दो प्रकार होने से धर्म के भी दो स्तर
हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक स्तर पर धर्म व्यक्ति के सद्गुणो को
जागृत और विकसित करने के अवसर प्रदान करता है। क्रोध को क्षमा से, अहकार
को विनय से, माया-कपट को सरलता से और लोभ को सतोष से जीतने की भूमिका
प्रस्तुत करता है। सामाजिक स्तर पर ग्राम धर्म, नगर धर्म और राष्ट्र धर्म की
परिपालना करते हुए लोक कल्याण के लिए जीवन समर्पित करने की प्रेरणा
जगाता है।

भावना को कई रूपो मे रखकर समझा जा सकता है। जीवन-सग्राम मे
सुख-दुःख रूप भावना क्रियाशील रहती है। सुखात्मक भावना के ही रूप हैं—प्रेम,
लोभ, उत्साह, श्रद्धा आदि और दुःखात्मक भावना के रूप हैं— क्रोध, भय, करुणा,
ईर्ष्या, ग्लानि आदि। राग और द्वेष इनके मूल कहे जा सकते हैं। सच्चा भावुक

इन भावनाओ मे उलझता नही । वह इनसे ऊपर उठकर 'आनन्द' की अनुभूति मे लीन होता है, ऐसी अनुभूति जहाँ न सुख है न दु ख । उसे समता या समरसता की स्थिति भी कह सकते हैं ।

इस स्थिति को पाने के लिए जो साधना का क्रम है, उसमे भावना भाने का विशेष महत्त्व है । आचार्यों ने इस दृष्टि से बारह भावनाओ—अनित्य भावना, अशरण भावना, ससार भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशौच भावना, आस्रव भावना, सवर भावना, निर्जरा भावना, धर्म भावना, लोक भावना और बोधि दुर्लभ भावना तथा अन्य प्रकार से चार भावनाओ—मैत्री भावना, प्रमोद भावना, कारुण्य भावना तथा माध्यस्थ भावना का विधान किया है । १२ भावनाओ मे प्रारम्भ की ६ भावनाए मुख्यत आत्मगत हैं जो व्यक्ति के आत्म को, स्व को जागृत करने मे प्रधान रूप से प्रेरक और सहायक बनती हैं । इन भावनाओ के चिन्तन से व्यक्ति का अह टूटता है, मोह हटता है, आत्म-रक्षण का भाव प्रगाढ बनता है, आत्म–निर्भरता और पुरुषार्थ-पराक्रम जागृत होता है, देहासक्ति छूटती है और आत्मतत्त्व के प्रति दृढ श्रद्धान होता है । शेष भावनाए व्यक्ति के 'स्व' को 'सर्व' की ओर अभिमुख करती हैं । उसे ऐसे कर्म करने से रोकती हैं जिनमे स्व व पर का अहित होता है तथा ऐसे कर्म करने को प्रेरित करती हैं जिनसे स्व व पर का कल्याण होता है, सबके प्रति मैत्रीभाव बढाती हैं, गुणो के प्रति अनुराग जगाती हैं, दूसरो के लिए बहने, पिघलने का अवसर देती हैं और फिर भी सबके प्रति अनासक्त बनाये रखती हैं । भावनाओ का यह चिन्तन, मनन और अभ्यास व्यक्ति को अनित्यता से नित्यता, बिन्दु से सिन्धु और अधकार स प्रकाश की ओर ले जाता है ।



१५ राग-द्वेष को जीतने की प्रक्रिया

मनुष्य मननशील प्राणी है। अन्य प्राणियो की अपेक्षा उसमे मनस तत्त्व की प्रधानता है। मन की शक्ति के द्वारा वह व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति को जानता है। जो कुछ जानता है, उसका अपने परिवेश और परिस्थिति के अनुसार मूल्याकन करता है। मूल्याकन के अनुसार ही वह सवेदन अथवा अनुभवन करता है। जो अनुभव उसे सुखद लगता है उसे वह बनाये रखना चाहता है और जो अनुभव दु खद लगता है उसे दूर करना या हटाना चाहता है। इस प्रतिक्रियात्मक सस्कार को ही राग और द्वेष कहा गया है। दूसरे शब्दो मे इष्ट पदार्थों के प्रति प्रीति और अनिष्ट पदार्थों के प्रति अप्रीति क्रमश राग और द्वेष है। राग सुखात्मक भाव है और द्वेष दु खात्मक भाव है। सुख के ही अन्य अनुभाव है—लोभ, मोह, भोगवृत्ति आदि। दु ख के ही विस्तारक अनुभाव हैं—घृणा, ग्लानि, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, वैर आदि। मनुष्य मन, वचन और शरीर द्वारा जो कुछ क्रिया या व्यापार करता है साधारणत राग-द्वेष के वशीभूत होकर ही। इसीलिए राग-द्वेष को कर्म का वीज कहा गया है।

प्राकृतिक विधान की ओर देखे तो पता चलता है कि जब बीज को अनुकूल परिस्थितियाँ खाद, पानी, हवा, रोशनी आदि मिलते हैं तो वह अकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित होता हुआ एक से अनेक रूपो मे फलित होता है। उन फलो मे जो बीज होते हैं उनमे एकाध बीज ऐसा अवश्य होता है जिसमे अपने जैसे अनेक बीजो को पैदा करने की शक्ति होती है। कर्मबीज का यह सिलसिला ही शरीर का कारण है, जन्ममरण का चक्र है। जो इस चक्र मे सक्रमण करता है वह सस्कारो के वशीभूत होकर कोई न कोई सुख अथवा दु ख की प्रतिक्रिया किये बिना नही रहता। यह प्रतिक्रिया ही अशान्ति और बेचैनी का कारण है।

दार्शनिको ने इस जगत् को नाम–रूपात्मक कहा है। नाम ही चित्त है और रूप शरीर है। जब चित्त का मन और इन्द्रियो द्वारा विषयो से सम्पर्क-स्पर्श होता है तब सवेदन के फलस्वरूप अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया होती है, जो राग और द्वेष के कारण सुख-दु ख का कारण बनती है। यह प्रतिक्रिया विस्तार पाती रहती है और भव-प्रपच बढता जाता है। जब मनुष्य की

आवश्यकताएँ कम रहती हैं तब उनमें सस्कारगत प्रतिक्रियाएँ कम होती हैं लेकिन भोगवृत्ति बढने के साथ-साथ इच्छाएँ आवश्यकताओं का रूप लेने लगती है। तब राग-द्वेष का क्षेत्र विस्तृत बनता जाता है। पदार्थ मे अच्छा या बुरापन रागवृत्ति के कारण होता है। जिनके प्रति राग होता है उन्हे हम अधिक परिमाण मे प्राप्त करना चाहते हैं और वे हमारे पास अधिक समय तक बने रहे, कभी नष्ट न हो, यह तृष्णा भाव सतत बना रहता है। जो पदार्थ हमे इष्ट नही हैं उनके प्रति द्वेष वृत्ति बनी रहती है। हम उन्हे नही चाहते, उन्हें नष्ट हुआ देखना चाहते हैं।

राग और द्वेष का मुख्य कारण भोग-वृद्धि है। हम इन्द्रिय और मन की सहायता के इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेषभाव जागृत करते हुए भोग मे इतने आबद्ध हो जाते हैं कि हमारी सम्पूर्ण चेतना मूर्च्छित और जड हो जाती है। चेतन मन और अचेतन मन का फासला भोग-वृद्धि के कारण निरन्तर बढता जाता है। 'मैं' और 'मेरापन' इतना हावी हो जाता है कि 'पर' या तो दिखाई ही नही देता या बहुत छोटे रूप मे दिखाई देता है। इससे अह प्रबल हो उठता है और व्यक्ति यथार्थ से हटकर भ्रम मे जीने लगता है, जहाँ सुख नही है वहाँ सुख समझने लगता है। यह मिथ्या दृष्टि राग-द्वेष का ही परिणाम है।

एक समय था जब व्यक्ति जीवन और व्यवहार मे सरल और सादगी पसद था पर आज तकनीकी विकास ने जीवन-व्यवहार को अधिकाधिक जटिल और वक्र बना दिया है। इस कारण व्यक्ति अपने तक ही सीमित रह गया है। दूसरे की सवेदनाओं को वह अनुभव ही नही कर पाता। जब व्यक्ति भोग-भूमि से ऊपर उठकर योग-भूमि मे अर्थात् चित्त और शरीर के भेदविज्ञान को समझकर चेतन और अचेतन मन के फासले को दूर करने मे पराक्रमशील होता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर और सम होती है। इस अवस्था को ही स्थिति प्रज्ञ या जीवन मुक्त अवस्था कहा गया है।

मनुष्य के साथ दो तरह के विकार लगे हुए हैं। एक पुरातन सस्कारगत और दूसरा वर्तमान व्यवहारगत। अपने वर्तमान को सजग होकर देखने-परखने से व्यक्ति चरित्रवान बनकर प्रज्ञा मे पहुँच सकता है। अपने प्रत्येक क्षण के प्रति जागरूक रहने वाला नये कर्म नही बाधता है। उसका चिन्तन और व्यवहार सम्यक् हो जाता है। जब वह प्रज्ञा को जागृत कर लेता है तब पुरातन सस्कारो को उदय मे लाये बिना ही उन्हे जर्जरित और दग्ध कर देता है और फिर उनमे फल देने की ताकत नहीं रहती।

इस प्रकार कर्म मे अकर्म, अनित्य से नित्य और विभाव मे स्वभाव की ओर बढकर, चेतन-अचेतन मन की खाई को पाटकर, राग-द्वेष को जीता जा सकता है।

□ □ □

१६ क्षमा : जीवन का वसन्त

ऋतु चक्र मे वसन्त ऋतु का अपना विशेष महत्त्व है। यह ऋतु न अधिक उष्ण होती है—न अधिक शीत। इसमे जलवायु समशीतोष्ण रहता है। अत्यधिक शीत से दग्ध वनस्पतियाँ इस ऋतु मे अकुरित, पल्लवित और पुष्पित हो उठती हैं। प्रकृति मे जो प्रभाव वसन्त ऋतु दिखाती है, मानव जीवन व सस्कृति मे, वही प्रभाव प्रकट करने मे क्षमा-भाव सक्षम है। क्षमा भाव तभी प्रकट होता है जब जीवन मे अतिरेक से बचकर समता प्रतिष्ठापित की जाती है। क्षमा के अभाव मे व्यक्ति अतियो और उत्तेजनाओ मे जीता है। शास्त्रो मे इन अतियो और उत्तेजनाओ को कषाय और नोकषाय कहा गया है।

'कषाय' शब्द 'कष्' और 'आय' से बना है। 'कष्' का अर्थ है ससार और 'आय' का अर्थ है आमदनी। जब-जब मन मे कषाय के भाव उठते रहते हैं, तब-तब व्यक्ति सासारिक प्रपचो मे उलझता रहता है। उसका क्षमा भाव, समता भाव क्षीण होता रहता है। कषाय के कई रूप हो सकते है। मोटे तौर से क्रोध, मान, माया और लोभ को कषाय कहा है। क्रोध जागृत होने पर व्यक्ति की सहन शक्ति नष्ट हो जाती है। ज्यो-ज्यो क्रोध बढता जाता है त्यो-त्यो उसके शरीर व मन पर विकृति की छाया पडती जाती है। कहा जाता है कि क्रोध अन्धा होता है, उसमे विवेक नष्ट हो जाता है। क्रोधी व्यक्ति हमेशा दूसरो मे गलती ढूढता है। पर-दोष-दर्शन की वृत्ति का विस्तार होता जाता है। क्रोध की चरम अवस्था उसमे ग्लानि पैदा करती है। यदि वह दूसरो का अहित कर पाने मे असफल होता है, तो निराश होकर, हताश होकर स्वत अपना अहित करने लगता है। क्रोध के चरम क्षणो मे ही आत्म-हत्या जैसी घटनाएँ घटित होती है। क्रोधी जहा भी रहता है, वहाँ का पूरा वातावरण तनावयुक्त हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है 'क्रोध प्रीति का नाश करता है—कोहो पीई पणासेई।'

जब व्यक्ति मे क्रोध का भाव नही रहता, तब वह सहिष्णु और शान्त हो जाता है। पर-दोष-दर्शन की दृष्टि से हटकर वह 'स्वदोष दर्शन' की ओर अभिमुख होता है। स्व-सम्मुख होने मे उसका अह भी गलने लगता है। अह के गलने से वह न केवल अपने अपराधो के लिये दूसरो से क्षमा याचना करता है वरन् दूसरो के

द्वारा किये गये अपराधो को क्षमा करने की शक्ति भी उसमे प्रस्फुटित होती है। क्रोध शान्त होने मे व्यक्ति क्षमायाचना तो कर सकता है पर क्षमा का दान वह तभी कर सकता है जब उसका अहकार नष्ट हो।

क्रोध और अहकार के नष्ट होने पर व्यक्ति सहज और सरल बन जाता है। कथनी और करनी का अन्तर मिट जाता है। भीतर और बाहर वह एकरूप हो जाता है। उसे ससार के सभी प्राणी अपने मित्र लगने लगते हैं। वह सबको अपने समान ही प्रेम करने लगता है। उनके दु ख के प्रति वह करुणार्द्र हो उठता है। उसके हृदय से प्रेम, दया और सेवा का स्रोत फूट पडता है।

सरलता का यह भाव व्यक्ति को अनासक्त एव निस्पृह बनाकर सयम और तप की ओर अग्रसर करता है। सासारिक वस्तुओ मे रही हुई उसकी ममता घटने लगती है और समता बढने लगती है। उसमे आन्तरिक विरति-भाव का प्रस्फुटन होता है, जो अध्यात्म-साधना के पथ पर अग्रसर होकर भव-भव के बन्धन काटने मे समर्थ होता है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय के शान्त होने पर ही समता रूप उत्तम क्षमा-भाव जागृत होता है। साधना का लक्ष्य इसी क्षमा भाव को जागृत करना है। जिसके कषाय उपशान्त नही होते, उसकी साधना को साधना नही कहा सकता—

जे न उवसमई तस्स नत्थि आराहणा,
जे उवसमई तस्स अत्थि आराहणा।

जैन परम्परा मे तो प्रतिदिन प्रात काल एव सायकाल अपने अपराधो की क्षमा मागने के लिये प्रतिक्रमण का विधान है। जागरूक साधक प्रतिदिन प्रतिक्रमण कर 'अतिक्रमणो' से बचने का सकल्प करता है। जिनके कषाय बहुत हल्के होते हैं, वे अपने हृदय मे क्षमा भाव धारण कर अपनी साधना को सार्थक बनाते हैं, जो प्रतिदिन प्रतिक्रमण नही कर पाते, उनके लिये माह मे दो बार पाक्षिक, वर्ष मे तीन बार चातुर्मासिक एव पर्युषण के बाद सावत्सरिक प्रतिक्रमण का विधान किया गया है। सबका उद्देश्य है कषायो को उपशान्त कर समता रूप क्षमा भाव धारण करना।

हमारे समाज मे प्रतिक्रमण के उक्त विविध रूप आज भी प्रचलित हैं। आज भी ऐसे लोगो की कमी नही है, जो प्रतिक्रमण कर कृत अपराध के लिये क्षमा-याचना करते हैं, पर व्यवहार मे मोटे तौर पर देखा जाता है कि कषाय-भाव पहले से अधिक प्रगाढ और जटिल बने हैं, बाह्य और आन्तरिक परिग्रह वृत्ति का विस्तार हुआ है, भीतरी और बाहरी आसक्ति गहरी बनी है, प्रतिक्रमण के बाद अतिक्रमण रुके नही हैं। अत हमे स्थिर मस्तिष्क होकर विचार करने की आवश्यकता है कि

हमारी तप-सयम की साधना कितनी सार्थक है ? यदि हम वाहरी तौर पर खमत-खामणा करते रहे और भीतरी तौर पर आसक्ति की ग्रन्थियाँ वाँधते रहे तो हमारी माधना माधना नही है, वह एक प्रकार की छलना है, जो हमे छलती रहती है और अपने घेरे से हमे आगे वढने नही देती ।

हमारे आचार्यो ने क्षमापर्व के रूप मे हमे जो विरासत दी है वह, ममूचे विश्व के लिये अमूल्य निधि है । आज के निष्करुण, हिंमा प्रधान युग मे, कुण्ठा और तनावो से युक्त वातावरण मे यदि मानवता की रक्षा और सच्ची सुख-शान्ति की प्राप्ति सम्भव हो सकती है, तो क्षमा भाव धारण करने जैसी साधनात्मक प्रक्रिया से ही । अत हमारा कर्त्तव्य है और युग की आवश्यकता है कि हम क्षमापर्व को, अपने कपायो को उपशान्त कर, पूर्ण सार्थकता प्रदान करें ।



१७ क्षमा भाव सही अर्थ में धारण करें

विज्ञान और तकनीकी साधनो के द्रुतगामी विकास के साथ जीवन-साधन के तौर-तरीके अधिक सुविधाजनक बने हैं। व्यक्ति औपचारिक रूप से अधिक सभ्य दिखने-दिखाने लगा है। तन के रोग अपना निदान ढूँढने और उनकी उपचार-सामग्री जुटाने मे अधिक सक्रिय बने हैं, पर मन के रोग अधिक गहरे और विस्तृत होने लगे हैं। आर्थिक क्षेत्र मे जिस प्रकार रुपये की कीमत काफी गिर गई है, उसी प्रकार मानवीय और नैतिक क्षेत्र मे जीवन-मूल्यो की साख भी निरन्तर गिरती जा रही है। परिणामस्वरूप जीवन के दैनन्दिन व्यवहारो के साथ मानवीय मूल्यो का तालमेल टूटता जा रहा है। अन्य मानवीय गुणो के साथ-साथ क्षमा गुण की भी ऐसी ही स्थिति बनी हुई है।

जैन परम्परा मे क्षमा गुण को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, क्योकि क्षमा भाव वीतराग-दशा का ही साक्षात् रूप है। जब व्यक्ति राग-द्वेष आदि सुख-दु.खात्मक भावो से ऊपर उठकर आत्मानन्द मे रमण करने लगता है, तभी क्षमा भाव वास्तविक अर्थ मे प्रकट होता है। इस दृष्टि से क्षमा आत्मा का स्वभाव है। यह समस्त सद्वृत्तियो का उत्स और सद्गुणो का आधार है।

क्षमा-भाव के विकास के लिये अभ्यास और साधना की आवश्यकता बराबर बनी रहती है। आत्म-निरीक्षण और आत्मावलोकन के बिना इस ओर अग्रसर नही हुआ जा सकता। पर आज हम बिना अभ्यास और साधना, बिना आत्म-निरीक्षण और आत्मालोचन के क्षमाशील बनना चाहते हैं। परिणामस्वरूप क्षमा मन की वृत्ति न रहकर वचन की अभिव्यक्ति मात्र बनकर रह गई है। जिस प्रकार रुपये का अवमूल्यन हुआ है, उसी प्रकार क्षमा अपने गौरव और महत्त्व से गिरकर सामान्य शिष्टाचार तक ही सीमित हो गई है। यह शिष्टाचार 'एक्सक्यूज मी', 'सॉरी', 'पार्डन' और 'रिग्रेट' जैसे शब्दो मे लिपट कर ही रह गया है। ये शब्द यदि हृदय से निकलते हो तो जिन अनुचित कार्यो व व्यवहारो के प्रायश्चित रूप इनका प्रयोग किया जाता है, उनकी पुनरावृत्ति नही होनी चाहिये। पर सामान्यत देखा यह जाता है कि ये शब्द अर्थहीन हो गये हैं और किसी

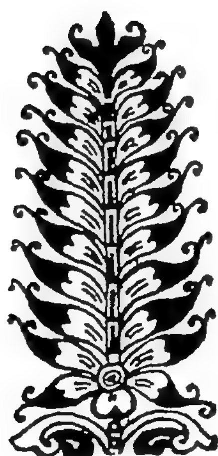
मशीन के पुर्जे की भाँति सक्रिय होकर इनका चलन-प्रचलन वरावर होता चला जा रहा है।

क्षमा मे दो मुख्य तत्त्व हैं—सहनशीलता और सामर्थ्य। जव भी इष्ट के वियोग और अनिष्ट के सयोग से मन उत्तेजित और शरीर तनाव युक्त हो, तव समभाव मे स्थित रहकर, अच्छे-बुरे फल को सहन करना क्षमा है। पर आज स्थिति यह है कि पग-पग पर 'एक्सक्यूज मी' और 'सॉरी' कहकर अथवा प्रात साय 'मिच्छामि दुक्कड' कहकर भी क्रोध मे आँखे लाल किये रहते हैं, मान मे शरीर ताने रहते हैं, व्यवहार मे कथनी-करनी का भेद रखते हैं और लाभ-लोभ की अनन्त इच्छाओ मे परिभ्रमण करते रहते हैं। परिणामस्वरूप मन की गाठें खुलना तो दूर रहा, तन भी अधिक गठीला वन जाता है।

हमारे धर्माचार्यो ने क्षमाभाव की धारणा और अभिवृद्धि के लिये अभ्यास और साधना की वहुत ही सुन्दर और मनोवैज्ञानिक परिपाटी चलाई। मानव-स्वभाव को ध्यान मे रखकर उसकी सरलता के क्रम से दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सावत्सरिक प्रतिक्रमण की व्यवस्था दी। इस व्यवस्था मे ध्यान और स्वाध्याय के माध्यम से विभाव से स्वभाव मे लौटने, क्षमा मे स्थित होने का विशेष विधान प्रस्तुत किया गया है। हमने उस विधान के वाहरी कलेवर को तो सभाले रखा, पर उसकी आत्मा को, उसकी चेतना को खो दिया, जिससे क्षमा हार्दिक न रहकर वाचिक और यान्त्रिक वन गई।

हम सवत्सरी आते ही क्षमा भाव की धारणा के लिये तैयारी करते हैं, पर तैयारी आन्तरिक अधिक न होकर दिखावटी और व्यावहारिक अधिक होती है। जिनके प्रति हमारे मन मे गाठे हैं, उनको खोलने का हम प्रयास नही करते, क्योकि हमारे मन मे क्रोध और मान जो वैठा है। जिनके साथ हमारे मधुर सम्बन्ध हैं, उनके पास जाकर हम अपना प्रेम और आदर प्रकट कर देते हैं। पर यह क्षमा भाव की कसौटी नही है। जब तक मान नहीं गलता तव तक सव जीव मुझे क्षमा करें, यह वोध जाग्रत नहीं होता। जव तक माया का वन्धन शिथिल नही होता, तव तक सव जीवो के प्रति मैत्री है—यह अनुभूति नही होती। जव तक क्रोध शान्त नही होता, तव तक 'मैं सव जीवो को क्षमा करता हूँ', यह भावना नही जगती। इसके लिये आत्मा मे गहरा उतरना होता है। आत्म-निरीक्षण, आत्मालोचन, ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा ही यह गहराई स्पर्श की जा सकती है। पर हम मे से कितने ऐसे हैं जो इस प्रक्रिया को अपनाते हैं और आत्माभिमुख होते हैं ? हममे से अधिकाश लोग तो वहिर्मुखी हैं। 'क्षमापना कार्ड' खरीद कर या छपवा कर अपने हस्ताक्षरो से उसे पोस्ट कर देते हैं। वहुत से तो हस्ताक्षर करने का श्रम भी

नही करते। किसी मुनीम या क्लर्क को यह भार सौंप दिया जाता है कि वह वनी वनाई लिस्ट के अनुसार विभिन्न क्षेत्रो मे फैले हुए लोगो को प्रिन्टेड क्षमापना कार्ड डालकर क्षमा माग ले। क्षमा कोई ऐसी वस्तु नही है जो दूसरो के द्वारा मागी या दी जा सके। यह तो आत्म धर्म है, जिसे आत्मा के भावो से विलग नही किया जा सकता। जद-जव हमने उसे आत्मा से विलग किया है—तव-तव हमने अपने मन को एक गाठ और लगा दी है। मन की गाठें अधिक न उलझें, इसके लिये आवश्यक है कि हम क्षमाभाव को सही अर्थों मे धारण करने की प्रक्रिया को समझें और उसे जीवन-व्यवहार मे उतारें।



१८ मार्दव भाव : सहानुभूति और सामाजिकता के संदर्भ में

मार्दव अर्थात् मृदुता-कोमलता मानव मन की एक ऐसी वृत्ति है जो उसे दूसरो के प्रति सवेदनशील और सहिष्णु बनाती है। यही एक ऐसा भाव है जो मनुष्य को मनुष्यत्व की ओर, सामाजिकता की ओर अग्रसर करता है। मृदुता का भाव आने पर मनुष्य केवल अपने लिये ही नही जीता, वह अपने जीवन को दूसरो को जीवित रखने के लिये समर्पित कर देता है। उसके अस्तित्व का विन्दु मात्र विन्दु रहने मे जीवन की सफलता नही मानता वरन् दूसरो के लिये वह कर सिन्धु मे परिणत होने मे अपने जीवन की सार्थकता समझता है।

मार्दव भाव के उद्भव की मुख्य शर्त है—अपने से परे दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति और उसके प्रति सहानुभूति का सम्बन्ध। इस भावना के उदय के साथ ही व्यक्ति का अहम् गल जाता है और उसका चिन्तन समष्टि के हित व लोक-कल्याण के लिये प्रवृत्त रहता है। दया, करुणा, प्रेम, मैत्री जैसे उदात्त भावो की जननी यही मार्दव भावना है। इस भावना के उन्नयन और विकास के लिए कठोरता और क्रूरता का निषेध आवश्यक है। व्यक्ति दूसरो के प्रति कठोर और क्रूर तभी वनता है जब उसमे अहम् अर्थात् अभिमान का भाव उमडता है। शास्त्रीय भाषा मे इसे मद कहा गया है।

मद का यह भाव व्यक्ति को उद्दण्ड, अभिमानी और निर्मम वना देता है। इसके नशे मे उसे हिताहित का भान नही रहता। उसकी विवेक शक्ति कुंठित हो जाती है। शास्त्रकारो ने मद को जहरीला नाग वताया है और उसके आठ फण वताये हैं। जाति, कुल, रूप, वल, तप, ज्ञान, सिद्धि और पूजा के आठ मद उसके आठ फण है। ये सभी या इनमे से कोई एक भी मनुष्य के विनाश का कारण वनता है।

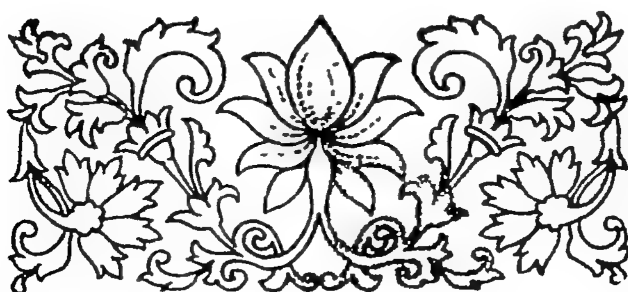
मद का यह प्रभाव उत्तरोत्तर वढता जाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसका क्षेत्र और प्रभाव व्यापक वना है। जाति मद के कारण जो रक्तपात, हिंसा और युद्ध हुए हैं उनसे इतिहास के पृष्ठ भरे पडे हैं। साम्प्रदायिक विद्वेष और रग भेद—काले-गोरे के नाम पर दगे फिसाद—नीति इसी के परिणाम हैं। इस मद

वन, सम्पत्ति, देश-प्रदेश और उत्पादन के साधनो का ही बटवारा नही किया वरन् मानव-मानव के बीच दीवारें खडी कर मानवीय भावनाओ तक का बटवारा कर दिया है। अशाति की इसी आग मे आज सारा विश्व झुलस रहा है।

जाति मद की तरह रूप, बल, धन, तप और ज्ञान आदि का मद है। ज्ञान के मद ने आज व्यक्ति को हिंसक बना दिया है। उसकी हिंसक प्रवृत्तियो का मूल कारण है—स्वार्थ-साधन। आज ज्ञान का उपयोग मुख्यत दूसरो को अधीन और परावलम्बी बनाने मे किया जा रहा है। वस्तुत ज्ञान का प्रकाश दूसरो को स्वावलम्बी और सुखी बनाने मे होना चाहिये, पर यह नही हो रहा है क्योकि ज्ञान के साथ सत्ता और सम्पत्ति जुड गये हैं जबकि जुडना चाहिये सयम और सद्भाव, विनय और विवेक।

मार्दव भाव व्यक्ति को सरल हृदय और विनम्र बनाता है। दूसरो के लिए पिघलने मे, पुरुषार्थ करने मे उसे आनन्द आता है। वह दूसरो का सुख स्वय लूटना नही चाहता बल्कि अपना सुख दूसरो को लुटाना चाहता है। धर्म के जितने भी तत्त्व है या हो सकते है उन सबका जीवन्त समुच्चय है—मार्दव भाव क्योकि इसी से क्षमा, आर्जव, लाघव, सत्य, सयम, तप, त्याग आदि धर्मभाव फूटते हैं।

मार्दव भाव की साधना हमे अपने से ही आरम्भ करनी होती है। हम अपने को इतना शक्तिसम्पन्न और शीलवान बनायें कि कोई हमारा शोषण न कर सके और हम किसी की विवशता का बेजा लाभ न उठायें वरन् उसे सक्षम बनाने मे अपने पराक्रम का उपयोग करें।



१९ आर्जव : सहज मैत्री धर्म

आर्जव का अर्थ है सरलता। सरलता मनुष्य का सहज गुण है। जिसकी प्रकृति सरल होती है, उसका कोई शत्रु नही होता। वह सबके प्रति मैत्रीभाव रखता है। सरल प्रकृति होने से उसके आचार और विचार मे एकता बनी रहती है। फलस्वरूप वह कभी सशयग्रस्त नही होता। उसका जीवन और व्यवहार खुली हुई पुस्तक के समान स्पष्ट और प्रत्यक्ष होता है। उसके चारो ओर प्रसन्नता, निश्चिन्तता और सहजता का वातावरण बना रहता है। सरल प्रकृति का व्यक्ति जैसा मन मे सोचता है, वैसा ही वाणी से प्रकट करता है और काया से तदनुकूल प्रवृत्ति करता है। मन, वचन और काया की यह एकता उत्तम प्रकृति के मनुष्य का लक्षण है।

एक समय था, जब मनुष्य की आवश्यकताएँ कम थी और वे कल्पवृक्ष अर्थात् प्रकृति से ही पूरी हो जाती थी। तब व्यक्ति बाहरी और भीतरी दोनो प्रकार से सरल था। पर ज्यो-ज्यो सभ्यता का चक्र आगे बढता गया त्यो-त्यो प्रकृतिप्रदत्त वस्तुओ से मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी न होने लगी, अत उसने अपने बाहरी जीवन को सरलता-सुभीता पूर्वक यापन करने के लिये नये-नये उपकरण जुटाये, नये-नये आविष्कार किये। इस प्रकार सस्कृति का विकास हुआ पर कालान्तर मे जीवन मे जटिलतायें बढने से आवश्यकताओ के अनुरूप सामग्री की पूर्ति नही होने लगी। अत मानव-श्रम के स्थान पर मशीनो का प्रयोग होने लगा। इससे उत्पादन मे वृद्धि हुई, लाभ-वृद्धि बढी और जीवन भोगोन्मुख बना। पर इसी लाभ-वृद्धि से लोभ-वृत्ति बढी और जीवन मे शान्ति के स्थान पर सघर्ष, सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्धा और सरलता के स्थान पर वक्रता बढी। यह वक्रता बाहर इतनी खतरनाक नही बनी, जितनी मनुष्य के भीतर जाकर बनी. और गाठ के रूप मे, शल्य के रूप मे, माया और कपट के रूप मे जमकर बैठ गई और द्वैत व्यक्तित्व का उदय हुआ जो आज के युग की सबसे बडी दु खान्त घटना है।

बाहर की वक्रता इतनी भयकर और खतरनाक नही होती जितनी भीतर की वक्रता। जिसके मन मे वक्रता अर्थात् मायाचार होता है, वह क्रूर, निर्दयी और स्वार्थी होता है। उसका कोई मित्र नही होता। वह आस्तीन का साप बनकर दूसरो को हानि पहुँचाने की योजनायें बनाने मे ही व्यस्त रहता है। उसकी

कार्यप्रणाली इतनी बनावटी और नकली लगने लगती है कि वह सबका विश्वास खो बैठता है। कहा भी है—"माया मित्ताणि नासेई" अर्थात् माया मित्रता का नाश करती है।

जिसके परिणाम सरल होते हैं, वह सबका प्यारा बन जाता है। उसका हृदय इतना पवित्र और सवेदनशील होता है कि वह सबको अपनी खुशी बाटता है। उसकी दृष्टि अपने दोषो और दूसरो के गुणो पर केन्द्रित होती है। फलस्वरूप उसमे निरन्तर गुण-ग्रहण का भाव बना रहता है। प्रत्येक क्रिया-व्यापार मे उसकी प्रज्ञा जागरूक और विवेक दीप्त रहता है। इस कारण अपनी गलती को वह शीघ्र स्वीकार कर, उसका प्रायश्चित लेता है, और भविष्य मे ऐसी गलती न हो, इसकी सावधानी बरतता है। आत्म-शुद्धि की इस प्रक्रिया से उसका जीवन ग्रन्थिरहित बना रहता है। इसीलिये शास्त्रो मे कहा है, जो सरल मन वाला है—वही निर्ग्रन्थ धर्म का पालन कर सकता है—'निग्गथा उज्जुदसिणो'।

मायावी व्यक्ति यद्यपि यह समझता है कि वह दूसरो को छल रहा है, पर अततोगत्वा वह स्वय ही छला जाता है। एक-एक कर उसके सासारिक जीवन के सारे साथी उससे छूटते जाते हैं और वह अकेला, असहाय बन जाता है। यही नही, उसकी आत्मा के सद्गुण भी उससे विदा हो जाते हैं—और उसका स्थान ले लेते हैं—अनेकानेक दुर्गुण और व्यसन। अनुभवियो ने इसीलिये कहा है कि शुद्ध और सरल आत्मा मे ही धर्म ठहर सकता है—'सोही उज्जुभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।'

आत्मा के ये गुण एक-एक कर इस प्रकार भागते है कि मायावी को इसका बोध ही नही हो पाता क्योकि माया अर्थात् कुटिलता भूत की तरह अदृश्य रहती है। अन्य कषायो की अपेक्षा माया सूक्ष्म होती है। क्रोध जब प्रकट होता है तब स्पष्ट दिखाई देता है। वह मस्तिष्क, वाणी और हाथ-पावो के द्वारा प्रकट होता है। मान अर्थात् अहकार भी शरीर की अक्कड तथा वाणी-व्यवहार मे व्यक्त होता है। लोभ लोभी की नानाविध प्रवृत्तियो को सकुचित कर देता है। सग्रह-वृत्ति और कृपणता के माध्यम से वह अभिव्यक्त हो जाता है। पर माया ऐसा मीठा जहर है जो अन्दर ही अन्दर व्यक्ति को काटता रहता है। आत्म गुणो के नष्ट हो जाने से उसकी सम्पूर्ण अच्छाइयो का, गतिशील व्यक्तित्व का नाश हो जाता है—'माया गइ पडिग्गाओ' अर्थात् माया से सद्गति नष्ट होती है। उसे तिर्यंच गति मे जन्म लेना पडता है, जहाँ वक्रता है, जडता है, अज्ञान है।

आज हमारा जीवन अधिक जटिल, कुटिल और गठीला बनता जा रहा है। परिणामस्वरूप बाहरी और भीतरी रस सूखता जा रहा है। कहा भी है—'जहा

गाठ तह रस नही ।' जब गाठ शरीर के किसी अग मे हो जाती है तब वह कितनी पीडाकारी होती है, यह सब जानते हैं। जब तक शल्य चिकित्सा द्वारा गाठ को निकाला नही जाता, तब तक चैन नही मिलता, और यदि मन मे गाठ पड जाय तो कितना सन्ताप होता होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। आज हमारे जीवन मे सरलता का अभाव होने से जगह-जगह गाठें पड गई है। इन्हे दूर हटाना आवश्यक है। ये गाठें तभी दूर हट सकती हैं, जब हमारे आचार और विचार मे सरलता आये, खान-पान मे सात्विकता आये, रहन-सहन मे सादगी आये, व्यापार-व्यवसाय मे प्रामाणिकता और ईमानदारी आये। जीवन की सफलता और सार्थकता का मार्ग है—आर्जव भाव, सरलता, क्योकि सरलता से ही शुद्धि, शुद्धि से ही सजगता और सजगता से ही सिद्धि सम्भव है।



२०

शौच धर्म : आत्म-शुद्धि और जीवन-शुद्धि के संदर्भ में

शौच शब्द का अर्थ शुचि या पवित्रता है। इस अर्थ मे शौच धर्म पवित्रता का धर्म है। पवित्रता पारदर्शी व्यक्तित्व का लक्षण है। अगूर की तरह जो भीतर-बाहर सरस और महज होता है, वही सरल और शुद्ध होता है। और शुद्धता ही धर्म का लक्षण है। जहा अशुद्धता होती है वहा वक्रता अर्थात् गाँठ अवश्य होती है। यह गाठ या ग्रन्थि ही दु ख का कारण होने से अधर्म है। गाठ अशुद्धता और विकृति का परिणाम है। गाठ को तोडना अर्थात् ग्रन्थि-भेदन करना और प्रकृतिस्थ होना धर्म है। इस दृष्टि से शौच धर्म सभी धर्मों का मूलाधार कहा जा सकता है।

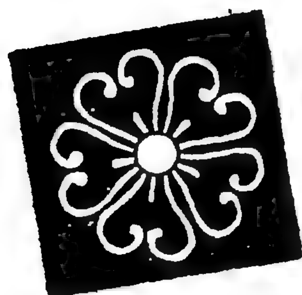
एक समय था जब व्यक्ति प्रकृति पर निर्भर था। उसकी आवश्यकतायें बहुत सीमित थी, पर धीरे-धीरे सभ्यता का विस्तार हुआ, आवश्यकतायें बढी और मुद्रा का प्रचलन हुआ। अर्थ-सग्रह और लाभ-वृत्ति से सघर्ष और प्रतिस्पर्धा की भावना बढी। समाज मे ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, शोषक-शोषित स्वामी-सेवक जैसे दो वर्ग पैदा हो गए। छीना-झपटी, लूट-खसोट तथा अधिकार-भावना से जीवन और समाज मे क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे कषाय भाव वृद्धि पाने लगे। इन कषाय भावो के प्रभाव से जीवन विकृत और व्यवहार अशुद्ध बनता गया।

जीवन और व्यवहार की यह अशुद्धता आचार और विचार दोनो को विकृत करने लगी। वैचारिक अशुद्धता के कारण धर्म के नाम पर हिंसा, पाखड, राजनीति के नाम पर एकाधिकार भावना और तानाशाही वृत्ति तथा वर्ण-व्यवस्था के नाम पर छुआछूत और रगभेद के नाना स्तर कायम होते गये। इन सबका प्रभाव सामाजिक रीतिरिवाजो और दैनिक व्यवहारो पर पडा। फलस्वरूप धर्म की मूल दृष्टि खो गयी। मिथ्या दभ और यशोलिप्सा ने अनेक सामाजिक बुराइयो को जन्म दिया। इन बुराइयो मे दहेज-प्रथा, सप्त-व्यसन, कथनी-करनी का अन्तर, सिद्धान्त और व्यवहार का भेद आज प्रमुख है। इन सब बुराइयो के खिलाफ निष्ठा-पूर्वक लडना शौच धर्म की ही उपासना है। इस दृष्टि से सोचने पर सत-महात्माओ के जो धार्मिक और सामाजिक सुधारात्मक आदोलन हैं, वे प्रकारान्तर से शौच धर्म की प्रतिष्ठापना के ही सामूहिक सगठित प्रयत्न हैं।

शौच धर्म के दो पक्ष है—द्रव्य शौच और भाव शौच। लोक जीवन मे बाह्य

स्वच्छता का ही प्रमुख रूप देखा जाता है। आज जनस्वास्थ्य और परिवार कल्याण तक इसका क्षेत्र बढाया जा सकता है। प्रदूषण के दुष्परिणामो से मानवता को बचाना भी द्रव्य शौच धर्म की साधना है। पर जिन लोगो ने तीर्थाटन, स्नान, पात्र, वस्त्र, भवन, शरीर आदि की जल और मिट्टी से या दर्भ व मन्त्र से शुद्धि करने तक ही शौच धर्म को सीमित कर रखा है, वह ठीक नही। इससे अधिक गहरी और सूक्ष्म बात है भाव शौच की। इसका सीधा सम्बन्ध है आत्मा की शुद्धि और मन की पवित्रता से। इसके लिये मानस-तीर्थ मे गहरे उतरने व आत्मस्वरूप मे रमण करने की आवश्यकता है। इस अर्थ मे शौच धर्म कषायो की भारहीनता और चेतना के ऊर्ध्वीकरण की साधना है। निर्लोभता इसका मूल कहा गया है।

शौच धर्म की सम्यक् परिपालना के लिए व्यक्ति मे अल्प इच्छा, अमूर्च्छा, अगृद्धता और अप्रतिबद्धता (अनासक्ति) का भाव आना आवश्यक है। ज्यो-ज्यो इन भावो की वृद्धि होती जाती है त्यो-त्यो निर्लोभता बढती जाती है। लोभ सब पापो का बाप कहा गया है। ज्यो-ज्यो लोभ घटता जाता है त्यो-त्यो सद्गुण प्रकट होते जाते हैं। सद्गुणो का प्रकटीकरण ही आत्म-शुद्धि और जीवन-शुद्धि की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अधिक तेज हो इसके लिए हमे लोकपक्ष और आत्मपक्ष दोनो स्तरो पर जागरूक होकर साधनारत रहने की आवश्यकता है।



२१ तप : कितना ताप, कितना प्रकाश ?

भारतीय साधना पद्धति मे तप का विशेष महत्त्व है। तप के द्वारा इन्द्रियो पर नियन्त्रित कर, मन को अन्तर्मुखी बनाकर, आत्मस्वरूप मे स्थित हुआ जाता है। आत्मा की सुपुप्त शक्तियो को जागृत करने का प्रभावकारी माध्यम है—तप। इन्द्रियो की प्रकृति और प्रवृत्ति बाहर की ओर खुलने की है। जब ये स्वतन्त्र होती हैं तो बाह्य ससार मे रमण करती हुई विषयभोगो का आसेवन करती हैं और मन को अपना दास बनाती हैं। यह प्रवृत्ति मनुष्य मे रहे हुए पशुत्व को उभारती है। जब इन्द्रियो और मन की अशुभ प्रवृत्तियो को नियन्त्रित कर, शुभ प्रवृत्तियो की ओर अग्रसर हुआ जाता है, तब तप की साधना शुरू होती है। दूसरे शब्दो मे आत्मा को आत्मा मे, आत्मा द्वारा स्थिर रखना तप है। तप-साधना करने वाला व्यक्ति सयम मे पराक्रम दिखाकर अपने चरित्र को दृढ बनाता है।

तप विकारो को नष्ट करने की प्रक्रिया है। जिस प्रकार सोने को तपाने से वह शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार कर्म पुद्‌गलो को दहन अर्थात् भस्म करने के लिये तप किया जाता है। तप से ताप मिलता है, जिसके फलस्वरूप विकृति नष्ट हो जाती है। प्रकृति मे हम देखते हैं कि ग्रीष्म ऋतु मे सूर्य खूब तपता है। उसके प्रचण्ड ताप से धरती तप कर विकार-रहित हो जाती है पर उसकी यह तपन सार्थक तब बनती है, जब आषाढ की फुहार का स्पर्श पाकर धरती हरी-भरी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार शरीर का तपन तब सार्थक बनता है जब उसमे निहित आत्मतत्त्व निर्मल, उज्ज्वल और प्रकाशमान हो उठता है।

हमारे तप-विधान मे शरीर के तपन के लिये छह बाह्य तपो की व्यवस्था है। जिसके अनुसार सम्पूर्ण आहार का त्याग कर, कम खाकर, निर्दोष आहार की प्राप्ति कर, स्वाद पर विजय प्राप्त कर, शारीरिक श्रम कर, इन्द्रियो पर नियत्रण कर ऐसी तैयारी की जाती है कि आत्मतत्त्व को निर्मल और शुद्ध बनाने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सके। यह प्रक्रिया जिन तपो के द्वारा पूरी हो सकती है, वे आभ्यन्तरिक तप कहे गये है। इनकी सख्या भी छह—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग है। इस विधान से स्पष्ट है कि तप साधना का मूल लक्ष्य आत्मतत्त्व की शुद्धि और

उसमे निहित ज्योति को प्रकट करना है। इसकी पूर्व भूमिका और तैयारी के रूप मे ही वाह्य तपो का विधान है।

पर बहुधा देखा यह जाता है कि वर्तमान परिपाटी मे हमारा अधिक ध्यान वाह्य तपो पर और उनमे भी विशेप रूप से अनशन अर्थात् भूखा रहने पर ही टिका रहता है। भूखा रहने का विधान इसलिये है कि मन और इन्द्रियो की चचलता मिटे और तप साधक आभ्यन्तर तपो की ओर अग्रसर हो। यदि साधक केवल भूखा रहता है और अपनी इन्द्रियो को स्वच्छन्द छोड देता है, मन की दुष्प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण नही कर पाता है, आत्म-स्वरूप मे रमण करने की ओर प्रेरित नही होता है तो सोचने की वात है कि उसका यह तप वास्तव मे तप है क्या ?

यदि तप के द्वारा कापायिक वृत्तियो को मद नहीं किया जाता, छोटी-छोटी वातो पर उत्तेजना आती हो, अपने को उच्च और दूसरे को हीन समझा जाता हो, हृदय मे दूसरो के प्रति मनोमालिन्य और छल-छद्म की भावना वढती हो, मानसिक क्लेश, वेचैनी, चिन्ता और रागद्वेप की वृत्ति पनपती रहती हो तो समझ लीजिए जो कुछ किया जा रहा है, वह तप नहीं, निरा ताप है, कष्ट है।

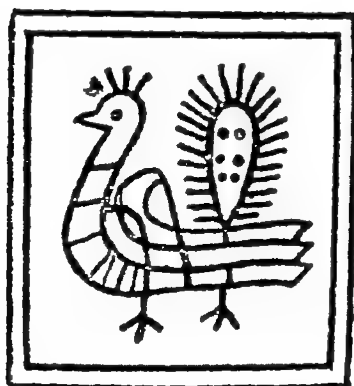
तप सच्चे अर्थों मे तप तव वनता है, जव वह कष्टदायक न रहकर आनन्द-दायक वने, मन को अपने ताप से उत्तेजित न कर हृदय-मन्दिर को प्रकाश से आलोकित करे। तप शान्ति प्रदाता है, समता-विधायक है। अगर आपके तप से घर, परिवार या समाज मे अशान्ति का वातावरण वनता है, यदि आप के तप से दूसरो को परेशानी उठानी पडती है, यदि आप अपने तप से परावलम्वी और पराजित हो जाते हैं तो उसकी क्या उपादेयता और सार्थकता रह जाती है, यह स्वय सोचें।

तप रूढिपालन न होकर आत्मक्रान्ति है, आडम्वर या प्रदर्शन न होकर आत्मालोचन और अन्तरावलोकन है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार ही इस ओर प्रवृत्त होना अभीष्ट है।

तप साधना करते समय फल की इच्छा नही होनी चाहिये। अन्तरग वीत-रागता और सयम की रक्षा व वृद्धि ही उसका लक्ष्य होना चाहिये। आज वहुत से लोग तप करके भी अपने जीवन-क्रम को वदल नही पाते, तप मे निहित तेज को ग्रहण नही कर पाते क्योकि उनकी दृष्टि 'स्व' पर केन्द्रित न होकर 'पर' पर केन्द्रित रहती है। यह दृष्टि ही उन्हे प्रदर्शन और आडम्वर की ओर खीच ले जाती है। उनका ध्यान आभ्यन्तर तपो की ओर न जाकर वाहरी दिखावे की ओर जाता है, शोभायात्रा की ओर जाता है, रिश्तेदारो के भेंट-उपहार पर जाता है, प्रभावना

और पुरस्कारो पर जाता है। तप की प्रभावना दूसरो को प्रभावित करने मे उतनी नही है जितनी स्वय अपनी आत्मा को प्रभावित-प्रकाशित करने मे है।

लगता है, हम तप के क्षेत्र मे भी सौदावाजी करने के आदी हो गये हैं। साधना के कठिन मार्ग को भी हम सरल वना लेना चाहते हैं, जैसे धर्म की अन्य क्रियाए वहिर्मुखी वन गई है, वैसे ही तप को भी हमने वहिर्मुखी वना दिया है। यदि विवेक पूर्वक चिन्तन कर, हमने तप को अन्तर्मुखी और वृत्तिपरिष्कारक नही वनाया तो निश्चित मानिये, तप से हमे ताप ही मिलेगा, प्रकाश नही। यह प्रत्येक तप-साधक के सोचने की वात है कि उसके तप मे कितना ताप है और कितना प्रकाश ? हमारा तप ताप के लिये नही, प्रकाश के लिये होना चाहिये।



२२

तप हमारे दैनिक जीवन-व्यवहार का अंग बने

भारत ऋषि, मुनियो और तपस्वियो का देश है। शास्त्रो मे बडे-बडे तपस्वियो और उनकी दीर्घ तप-साधनाओ के विशिष्ट रोमाचकारी वर्णन मिलते है। आज भी भारत मे लम्बी तपस्या करने वाले साधक विद्यमान है। हमारे धर्म और सस्कारो मे, पर्व और त्यौहारो मे ऐसी स्थितियो, घटनाओ और कथाओ की कमी नही कि जिनका आलम्बन पाकर सैकडो-हजारो नही वल्कि लाखो स्त्री-पुरुष किसी न किसी रूप मे तपस्या करते हैं। तपस्या के नाम पर किये जाने वाले आडम्बर और प्रदर्शनो की भी कमी नही है। कई भाई-बहिन तो वर्ष भर एकान्तर तप (एक दिन उपवास, एक दिन खाना) करते हैं, जिसके पारणे वैसाख शुक्ला तृतीया (आखातीज) को सम्पन्न होते हैं।

तपस्या का इतना अधिक प्रचलन और व्यवहार होने पर भी चारित्र पालना का, ज्ञान-दर्शन की प्रभावना का जो तेज और ओज जीवन और समाज मे प्रकट होना चाहिये, वह नही दिखाई देता। इससे यह अनुमान करना गलत नही होगा कि अधिकाश तपस्वी भाई-बहिन तप को रूढि रूप मे ही लेकर चलते हैं। वे उसके मुख्य लक्ष्य और स्वरूप को नही पहचानते।

सांसारिक बधनो और मानसिक विकारो की मुक्ति के लिये ज्ञान-दर्शन और चारित्र की भाँति तप भी एक प्रमुख साधन है। ज्ञान और दर्शन के माध्यम से तो तत्त्व का स्वरूप समझकर श्रद्धा दृढ होती है, पर उसका आचरण चारित्र द्वारा ही सभव हो पाता है। चारित्र की कसौटी तप है। चारित्र के परिपालन और व्रत-नियमो के आराधन मे जो बाधाए आती है, उन्हे दूर करने मे अपने पुरुषार्थ-पराक्रम को प्रकट करने का नाम तप है। धर्म के पालन से न डिगने और उसमे आने वाली कठिनाइयो को धैर्य पूर्वक सहन करने की क्षमता का विकास कर, सहनशीलता अर्जित करने का नाम तप है। शास्त्रीय दृष्टि मे तप निर्जरा है, जिसके द्वारा सचित कर्म मेल को दग्ध किया जाता है। जिस प्रकार तालाब मे सचित पानी को सुखाने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पानी के आगमन के सारे स्रोत अवरुद्ध कर दिये जाये ताकि पानी उसमे न आ सके और जो पानी पहले से भरा हुआ है, उसे सुखाने के लिये वायु और सूर्य की शक्ति के साथ-साथ सिंचाई के लिये उसका उपयोग कर

लिया जाय । ठीक उसी प्रकार जीवात्मा रूपी तालाव के साथ जो कर्मों का पानी है, उसे नष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि नया पानी उसमे न आये । इसके लिये सयम रूप चारित्र की आराधना की जाती है, व्रत-नियम लिये जाते हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कपायो को उपशान्त किया जाता है । और जो पानी पहले से सचित है, अर्थात् जो कर्म पुराने है, उन्हे जर्जरित करने के लिये वाह्य और आभ्यन्तर तप किया जाता है । तप का लाभ तभी मिल पाता है, जब उसके साथ सयम रूप चारित्र की साधना जुडी हुई हो । तालाव मे भरा हुआ पुराना पानी तभी सूख सकता है, जब नया पानी न आये । यदि नया पानी आने के स्रोत वन्द न किये जायें और पुराने पानी को सुखाने के प्रयत्न हम निरन्तर करते रहे तो हमे सफलता नही मिलेगी ।

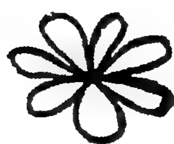
वर्तमान मे प्राय यह देखा जाता है कि तपस्या के साथ सयम व चारित्र का पूरा मेलजोल नही है । उपवास, वेले, तेले और लम्बी तपस्यायें करके भी तपस्वी भाई-वहिन सांसारिक कार्यो मे और कपाय भावो मे प्राय उलझे रहते है । तप के साथ हिंसा, झूठ चोरी, परिग्रह आदि की वृत्ति मे जो कमी आनी चाहिये, वह प्राय नही आ पाती । क्रोध की मात्रा कम नही होती, मान या अहकार कम होने की वजाय कभी-कभी अधिक वढा हुआ दिखाई देता है । कथनी और करनी मे एकता स्थापित नही हो पाती । मान सम्मान, पैसा, परिग्रह प्राप्ति का लोभ किसी न किसी रूप से वना रहता है । यह वृत्ति तप को अशुद्ध वनाने वाली है । जव मन मे दूसरो को नीचा देखने, उनका काम विगाडने तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने की वृत्ति वनी रहती है, तव तप जीवन के लिये सार न वनकर भार वन जाता है । ऐसे तप को ताप कहा गया है । शास्त्रो मे इसे वाल-तप कहा है । विवेक और ज्ञान के अभाव मे तप ताप वन जाता है ।

तपस्वी भाई-वहिन को अपने मन मे सदैव इस वात का चिन्तन करते रहना चाहिये कि वह जो तपस्या कर रहा है—उसके पीछे लक्ष्य क्या है ? शास्त्रो मे स्पष्ट कहा गया है कि इस लोक के लिये अर्थात् सासारिक भोग-विलास और परिग्रह-वृद्धि आदि के लिये तप न किया जाय । परलोक के लिये अर्थात् स्वर्ग-प्राप्ति, देव-ऋद्धि आदि की आकांक्षा से तप न किया जाय । पूजा, प्रतिष्ठा, महिमा, यश आदि के लिये तप न किया जाय । आज के अधिकांश तपस्वी इन तीनो निपेधो के शिकार हैं । जो इहलोक और परलोक के लिये तप नही करते वे भी महिमा, पूजा, प्रतिष्ठा को महत्त्व देते प्रतीत होते हैं । तपस्या के नाम पर किया जाने वाला प्रदर्शन और आडम्बर इसी मनोवृत्ति का परिणाम है ।

तप का लक्ष्य है सचित कर्मो को निर्जरित करना अर्थात् मन मे हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और कुशील की जो भावना उठती है, उसे न उठने दें । तपस्या की

अग्नि मे तपकर मन की वृत्तियाँ इतनी शान्त और अनासक्त बन जायें कि वे पाप मार्ग की ओर न बढें। जब-जब कठिनाइयाँ आयें, तब तब मन मे धैर्य का भाव पुष्ट हो। इसी दृष्टि से कहा गया है—'तवस्स मूल धित्ती' अर्थात् तप का मूल धृति अर्थात् धैर्य है। तपस्या के प्रभाव से शरीर का दुर्बल होना इष्ट नही है, इष्ट है मन का प्रसन्न होना, क्षमाभाव आना, सरलमना होना, विनीत बनना, सहानुभूतिशील होना, अनासक्त बनना। श्रेष्ठ तप का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि वही तप श्रेष्ठ है जिससे कि मन अमगल न सोचे, इन्द्रियो की हानि न हो और नित्य प्रति की धर्म-क्रियाओ मे विघ्न न आये।

आज तप के अर्थ मे प्राय बाह्य तपो को ही विशेप महत्त्व दिया जाता है। बाह्य तप छ. प्रकार के हैं—भूखा रहना, कम खाना, भिक्षा वृत्ति करना—निर्दोष आहार ग्रहण करना, स्वाद पर विजय प्राप्त करना, कष्टसहिष्णु बनने का अभ्यास करना, मन और इन्द्रियो को सद्वृत्तियो मे प्रवृत्त करना। इन बाह्य तपो मे भी मुख्यता अनशन तप की ही है अर्थात् भूखा रहना ही बडा तप मान लिया गया है। यह अवश्य है कि शास्त्रकारो ने अनशन तप को बडा महत्त्व दिया है और कर्मों की निर्जरा तथा शारीरिक रोगो के उन्मूलन मे इसका लाभ भी प्रतिपादित किया है, पर यह सब तभी सभव है जब उसके साथ आन्तरिक तप जुडने लगते हैं। आन्तरिक तप छ प्रकार के बताये गये हैं :—प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य (सेवा) स्वाध्याय, और व्युत्सर्ग (शरीर के प्रति अनासक्त भाव) जब तक तपस्वी के मन मे सहिष्णुता, निराकुलता और देह के प्रति अनासक्त भावना का विकास नही होता, तब तक तपस्या का पूरा लाभ उसे नही मिल पाता। अत यह आवश्यक है कि हम तप के मुख्य लक्ष्य को समझें और उसे अपने दैनिक जीवन-व्यवहार का अग बनायें। पर्व-तिथियो पर तप करके ही हम अपने कर्तव्य की इतिश्री न समझ लें बल्कि तपोसाधना मे आगे बढकर हम अपने प्रत्येक कार्य और व्यवहार मे अपने तपोनिष्ठ जीवन की छाप छोडें।



२३

सेवा : आत्मकल्याणक भी, लोककल्याणक भी

मनुष्य जन्म लेने के बाद अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए समाज पर निर्भर रहता है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध सहयोग और सेवा भाव पर निर्भर है। इस दृष्टि मे सेवा भावना सामाजिकता का आधार है।

ज्यो-ज्यो प्राणी मे इन्द्रियो का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो उसमे सहयोग की भावना बढती जाती है। एक इन्द्रिय वाले प्राणी की अपेक्षा पचेन्द्रिय मे सहयोग की भावना का यह अभिवृद्ध रूप देखा जा सकता है।

सेवा भावना का स्रोत तभी फूटता है जब व्यक्ति मे दूसरो को अपने समान समझने की भावना का उदय होता है। हमारी आत्मा जैसे हमे प्रिय है, वैसे ही दूसरे की आत्मा उसे प्रिय है। ऐसा समझकर, ससार के सभी प्राणियो के प्रति मित्रता स्थापित कर, उनके दु ख को दूर करने मे सहयोगी बनना सेवा धर्म का मूल है। जब व्यक्ति अहकार को भूल कर, मन और वचन मे सरलता लाता है तभी वह सेवा के क्षेत्र मे सक्रिय बन पाता है। 'सेवा' शब्द 'से' और 'वा' से बना है। 'से' का अर्थ है सेंचन करना और 'वा' का अर्थ है वारण करना। सेवा के दो मुख्य कार्य हैं। एक तो दूसरे के कार्य मे सहयोगी बनकर उसके कार्य को पूरा करना अर्थात् उसके कार्य को सिंचित करना और दूसरा उसके कार्य या जीवन-निर्वाह मे जो बाधाए है उन्हे दूर करना, उनका निवारण करना। इस प्रकार सेवा धर्म जीवन-रक्षा का धर्म है। इस धर्म का निर्वाह उत्तम रूप से तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति दूसरो के दु ख को दूर करने या हल्का करने मे अपने सुख का त्याग करे। त्याग भावना के बिना सेवा धर्म का निर्वाह हो नही सकता।

त्याग भावना चित्त की निर्मल वृत्ति है। जब व्यक्ति कषाय भावो का त्याग कर सेवा मे प्रवृत्त होता है तब उसमे सेवा के बदले यश, मान, प्रतिष्ठा आदि कुछ भी पाने का भाव नही रहता। पर जब ये कषाय भाव नही छूटते तब जो सेवा की जाती है उसमे प्रदर्शन और सम्मान पाने की भावना रहने से वह व्यवसाय का रूप धारण कर लेती है। आज सेवा का यह व्यावसायीकरण धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सस्थाओ व पार्टियो मे बढता जा रहा है।

'उत्तराध्ययन' सूत्र के २६वें अध्ययन 'सम्यक्त्व पराक्रम' मे गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन् ! वैयावृत्य अर्थात् सेवा करने से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान् उत्तर मे फरमाते हैं कि वैयावृत्य अर्थात् सेवा करने से जीव को तीर्थंकर नाम कर्म का बध होता है।[1] तीर्थंकर जीव की वह उच्चतम अवस्था है जब आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल आदि की समस्त शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं और जन्म-मरण के भवप्रपच से उसकी मुक्ति होना निश्चित हो जाता है। तीर्थंकर ऐसा धर्मनायक और लोकनायक है जो अपनी देशना के बल पर जीवो को ससार-सागर से पार उतारने मे समर्थ हैं। सेवा का ऐसा महान् फल तभी मिल सकता है जब सेवा शुद्ध अन्त करण से की गई हो, उसमे छल, कपट और अहकार की गन्ध न हो।

सेवा का क्षेत्र विस्तृत और बहुमुखी है। 'स्थानाग' सूत्र मे दस प्रकार की सेवा बताई गई है—आचार्य की सेवा, उपाध्याय की सेवा, स्थविर की सेवा, तपस्वी की सेवा, शिष्य की सेवा, ग्लान-रोगी की सेवा, गण की सेवा, कुल की सेवा, सघ की सेवा, और सहधर्मी की सेवा। अतिम चार सेवाओ मे देश सेवा और समाज सेवा का भाव सम्मिलित है।

सेवा मे ऊच-नीच की भावना नही रहनी चाहिए। जिसकी सेवा की जा रही है उसके प्रति सेवाभावी के मन मे हीनता की भावना नहीं आनी चाहिए। सच्ची सेवा मे परमात्मा का वास होता है। पर आज सेवा को दान के साथ विशेष रूप से जोड दिया गया है।

यद्यपि अपने परिग्रह का त्याग कर, उसका सेवा-कार्यों मे उपयोग करना अच्छी बात है, पर इसमे दाता सकारात्मक रूप से सक्रिय बन सेवा करने का अवसर नही प्राप्त कर पाता। धन कमाने के स्रोत कितने शुद्ध हैं इस पर भी सेवा की शुद्धता निर्भर है। यदि तस्करी, भ्रष्टाचार जैसे अशुद्ध तरीको से धन एकत्र कर दान दिया गया है तो वह फलदायी नही बनता। सच तो यह है कि मुद्रा के रूप मे, पैसे के रूप मे दान देने का हमारे यहा शास्त्रीय विधान नही है। दान के रूप मे आहार-दान, औषधि-दान, ज्ञान-दान और अभय-दान का विशेष उल्लेख रहा है। भूखे को भोजन देना और वह भी सम्मान पूर्वक, अज्ञानी को ज्ञान देना वह भी विवेक पूर्व[क], रोगी को औषधि देना वह भी प्रेम पूर्वक और प्राणी को सब प्रकार से निर्भय ब[नाना] देना, दान का सर्वश्रेष्ठ रूप है। जब तक मन मे घृणा है, अभिमान है, लोभ भय है, तब तक दान के रूप मे ऐसी सेवा हो नही सकती। धनवानो को के धन का दान देकर ही नही रह जाना है। यह तो सेवा का नकारात्मक पक्ष

---

१ वेयावच्चेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्म निबन्धइ ।। ४४ ।।

व्यापार मे 'स्लीपिंग पार्टनर' जैसा रोल है । उन्हे तो सक्रिय रूप से सेवा मे माझीदार बनना चाहिए ।

सेवा अहिंसा का सक्रिय रूप है पर हमने अहिंसा को कीडे-मकोडो और पशु-पक्षियो की रक्षा तक ही सीमित कर दिया है । क्या कारण है कि मानव के द्वारा मानव का शोषण होने के खिलाफ हमारी अहिंसा का तेज प्रकट नही होता ? हम सूक्ष्म अहिंसा के पालन पर तो बल देते हैं पर मानव को शोषण और अन्याय से बचाने मे अग्रणी नही बनते ? हमने सेवा को मुख्यत सत-महात्माओ को सेवा तक ही सीमित कर दिया है । विश्व की बृहत्तर मानवता, जो भूख मे तडप रही है, नानाविध रोगो मे ग्रस्त है, आश्रय के अभाव मे जो बेसहारा है, उसे त्राण देने मे हमारे हाथ नही उठते, पैर नही बढते । हमारी सेवा गरीबो की सेवा न बनकर पूजा-पाठ और बाहरी धार्मिक क्रियाओ की सेवा बनती जा रही है । सेवा का यह रूप आत्मा को परमात्मा बनाने की बजाय पराधीन बनाता जा रहा है । हम ऊचे स्वर से भगवान् का कीर्तन करते ही न रहे वरन् जो दु खी और पीडित है उनकी पुकार सुनें । हम सत-महात्माओ के चरण-वन्दन करके ही न रहे वरन् समाज मे जो पैरो तले कुचले जाते हैं, जो पददलित हैं, उन्हे ऊचा उठायें, अपने गले लगायें ।

सेवा से महान् पुण्य होता है । पर यह पुण्य मात्र कुछ देने से ही नही होता । शास्त्रो मे जिन नौ पुण्यो की चर्चा की गई है उनमे प्रथम पाच पुण्य—भोजन, पानी, स्थान, विश्राम के साधन, वस्त्र आदि देने से होते हैं पर अन्तिम चार पुण्य कुछ देने से नही वरन् मन मे दूसरो के प्रति कल्याण की भावना भाने से, दूसरो के प्रति हितकारी, प्रिय वचन बोलने से, अपने शरीर द्वारा दूसरो की सेवा करने से तथा गुणीजनो, गुरुजनो आदि के प्रति विनय, नमस्कार, सत्कार आदि करने से होते हैं । आज हम बाहरी क्रिया करने के ही अधिकाधिक अभ्यासी होते जा रहे हैं पर जब यह 'करना' हमारे 'होने' (becoming) बनने मे परिणत नही होता तब तक सेवा सच्चे अर्थों मे होती नही । भगवान् महावीर ने सेवा का तीर्थंकर गोत्र बन्धने का जो फल बताया है, वह सेवा की आतरिकता से जुडने पर ही सम्भव है । हम इस आतरिकता मे जुड सकें, इसी मे अपना और दूसरो का कल्याण है ।



२४ अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह

मनुष्य जन्म से नही, कर्म से पहचाना जाता है। सत्कर्म मनुष्य को ऊँचा उठाकर उसमे देवत्व की प्रतिष्ठा करते हैं जबकि दुष्कर्म उसे नीचे गिरा कर पशुता की ओर ले जाते हैं। मनुष्य का विवेक यदि जागृत है तो वह दैविक गुणो का सम्पादन कर महान् बन जाता है। विवेक के अभाव मे उसे दुष्प्रवृत्तियाँ और दुष्कर्म आ घेरते हैं और वह दुर्लभ मानव-जीवन पाकर भी पशुवत् जिन्दगी गुजारता है।

मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसके मूल मे उसके विचार ही प्रेरक होते हैं। बुरे विचार उससे बुरे काम करवाते हैं और दुष्कर्मों की ऐसी शृंखला मे वह फँस जाता है कि उससे बाहर निकलना कठिन हो जाता है। शास्त्रो मे इस दुष्चक्र को 'कषाय' कहा है। कषाय अर्थात् ऐसी आय जो व्यक्ति को सासारिक प्रपचो और बन्धनो मे फसाये रखती है। परिग्रह का सम्बन्ध इसी कषाय वृत्ति से है क्योकि इसके मूल मे रागवृत्ति प्रधान रहती है। मूर्च्छा अर्थात् मोह और आसक्ति को ही परिग्रह कहा गया है। इस मोह वृत्ति से ही भय, लोभ जैसे अन्य विकार उत्पन्न होते हैं। ये विकार परिग्रह या आसक्ति को थामे रखते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे तना वृक्ष को थामे रखता है।

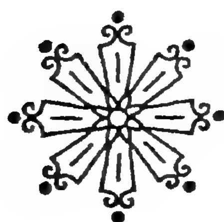
आरम्भ मे परिग्रह से सचय और सचय से सुरक्षा का भाव पुष्ट होता दिखाई देता है। सुरक्षा का भाव व्यक्ति को अपने प्रति स्वार्थी और दूसरो के प्रति क्रूर बना देता है। सचय वृत्ति लाभ का माध्यम बनकर धीरे-धीरे लोभ मे परिणत होती जाती है और इस प्रकार तथाकथित सुरक्षा का भाव अवचेतन मन मे भय, क्लेश और दुःख का भाव पैदा कर देता है। इससे मानव मन की मैत्री, करुणा, सहानुभूति और प्रेम की स्वाभाविक धारा सूखने लगती है और उसके स्थान पर कुण्ठा, वितृष्णा और प्रतिहिंसा जैसी भावनाएँ पनपने लगती हैं।

परिग्रही व्यक्ति अपनी आतरिक टूटन को मिटाने के लिये बाहरी पदार्थों की ढेर सामग्री जोडने लगता है। धीरे-धीरे उसकी आसक्ति बाहरी पदार्थों तक ही सीमित नही रहती वरन् वैचारिक दृष्टि से भी वह दुराग्रही, हठवादी और अनुदार बन जाता है। उसके प्रत्येक कार्य मे उसका मिथ्याभिमान और अहम् झाकने लगता है। परिग्रही व्यक्ति के परिग्रह के अनुपात के साथ-साथ उसके जीवन मे सामान्यत

कथनी और करनी की द्वैतता वढती जाती है। यही कारण है कि आज परिग्रह का सकट केवल आर्थिक जगत् तक ही सीमित नही रहा है, विचार जगत् भी इससे आक्रान्त है। आर्थिक क्षेत्र मे पनपने वाले परिग्रहवाद को रोकने के लिये तो आज समाजवाद और साम्यवाद जैसी कई शासन-प्रणालियाँ और राजनैतिक विचार धाराएँ सघर्परत है पर विचार जगत् मे जो एकान्त हठवादिता और अतिरेकता पनपती जा रही है और जिससे आज के तथाकथित अनेक वुद्धिजीवी ग्रस्त हैं, उसे रोकने का क्या कोई रचनात्मक सगठन है ?

सच तो यह है कि आन्तरिक परिग्रह ही दुख का मूल कारण है। वाहरी पदार्थो के परिग्रह को सीमित करने से भावो की विशुद्धि होती है पर यदि साथ-साथ अन्तरग परिग्रह का त्याग नही है तो वाह्य परिग्रह का त्याग विशेप फलदायक सिद्ध नही होता।

आज की यान्त्रिक सभ्यता ने व्यक्ति को वाहरी पदार्थों के प्रति जितना आकर्पित किया है, लगभग उतना ही या उससे भी अधिक अन्तरग परिग्रहो के प्रति, कापायिक वृत्तियो के प्रति आसक्त किया है। परिणाम यह हुआ है कि व्यक्ति भीतर और वाहर दोनो ओर से नाना प्रकार की ग्रथियो से आक्रान्त हो गया है। ज्यो-ज्यो वाह्य पदार्थों का ज्ञान-क्षितिज विकसित होता जा रहा है त्यो-त्यो उसकी आतरिकता का वोध कमजोर पडता जा रहा है। फलस्वरूप उसकी जटिलताएँ अधिकाधिक वढती जा रही है। इन जटिलताओ से मुक्त होने के लिये उसकी वाहरी और भीतरी ग्रन्थियो का टूटना आवश्यक है और चिन्तन का ऐसा कोण विकसित होना आवश्यक है कि ये ग्रथिया न वनें। इसके लिये वाहरी पदार्थों की मर्यादा वाधना ही पर्याप्त नही है वरन् अपने भीतर ऐसी अनेकान्त दृष्टि विकसित करना भी आवश्यक है कि जिससे अन्तरग परिग्रह का घेरा टूट सके।



२५ | अपरिग्रह-भाव अहिंसा का आधार

अपरिग्रह का सामान्य अर्थ है– परिग्रह से दूर हटना, परिग्रह न रखना, आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना। परिग्रह मे ग्रहण का भाव मुख्य है। ग्रहण करने मे आवश्यकता का मुख्य आधार रहता है। आवश्यकता का घटना-बढना इच्छा पर निर्भर है। इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त और अपार हैं। किसी एक वस्तु की प्राप्ति पर इच्छा पूरी नही होती, उसका और विस्तार होता चलता है। अत इच्छापूर्ति मे सुख नही है। सुख और शान्ति की अवस्थिति है– इच्छा के अभाव मे। इच्छा का विस्तार और सकोच मानसिक प्रक्रिया है। अत भगवान् महावीर ने किसी वस्तु, व्यक्ति और विचार के प्रति मूर्छा-ममत्व को परिग्रह कहा है। परिग्रह का विस्तार भौतिक वस्तुओ तक ही सीमित नही है। उसका विस्तार विचारो में भी है। इस दृष्टि से आवश्यकता से अधिक प्राप्त करने की इच्छा ही परिग्रह नही है, जो कुछ प्राप्त है उसके सरक्षण की चिन्ता और जो अप्राप्त है उसके प्रति बनी हुई अनवरत लालसा भी परिग्रह है। दूसरे शब्दो मे किसी वस्तु या विचार के अभाव मे यदि मानसिक क्लेश होता है तो वह परिग्रह है।

परिग्रह का यह भाव क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायो के द्वारा परिपुष्ट होता है। जिस व्यक्ति के मन मे परिग्रह का भाव है वह अपने को तनिक भी हानि पहुचाने वाले व्यक्ति या पदार्थ के प्रति बात-बात पर क्रोध करेगा। अपने मान की पुष्टि के लिये वह दूसरो को हीन समझ कर उनके प्रति तिरस्कार की भावना रखेगा, तथा अपने अहम् की तुष्टि के लिये वह अधिकाधिक सग्रह करने हेतु सम्पर्क मे आने वाले लोगों के साथ मायाचार करेगा, कथनी और करनी मे, आदर्श और व्यवहार मे अन्तर रखेगा। उसका व्यक्तित्व अखड व्यक्तित्व न होकर विखडित हो जायेगा, टुकडो–टुकडो मे बट जायेगा। जो कुछ उसे प्राप्त नही, उसे प्राप्त करने की दौड–धूप मे वह हमेशा परेशान रहेगा और लोभ वृत्ति के वशीभूत होकर वह सूक्ष्म हिंसा और शोषण पर उतर जायेगा।

भगवान् महावीर ने अपने अपरिग्रह सन्देश मे कषाय-वृत्तियो पर नियन्त्रण करने पर विशेष बल दिया। महावीर के समय मे आर्थिक व्यवस्था विशेष जटिल नहीं थी। अत हिंसा और परिग्रह का विवेचन धार्मिक क्रियाओ के नाम पर होने वाले क्षेत्रो मे ही विशेष चर्चित रहा। उनके समय मे यज्ञ आदि धार्मिक हिंसा का

वोलवाला अधिक था। अत उसे रोकने के लिये उन्होने अहिंसा पर विशेप वल दिया और वाद के आचार्यो ने भी उसी सदर्भ मे विशेप व्याख्या–विवेचना की।

पर आधुनिक युग मे औद्योगिक क्रान्ति व तकनीकी वैज्ञानिक विकास के कारण धार्मिक आडम्वर तो अपेक्षाकृत कम हुए हैं पर आर्थिक क्षेत्र मे हिंसा और शोपण का चक्र पूर्वापेक्षा तेज गति से चलने लगा है। इसे रोकने के लिये विभिन्न राजनैतिक विचारको, दार्शनिको ने अपने-अपन विचार दिये हैं। इनमे कार्ल मार्क्स का चिन्तन विशेष प्रभावी वना हुआ है। मार्क्सवादी चिन्तन मे स्वामित्व को नकारा नही गया है। वहा व्यक्ति के स्वामित्व को समाज के स्वामित्व मे वदलने की प्रक्रिया पर वल दिया गया है, और इस वदलाव के लिये हिंसा करने की भी छूट है। पर महावीर ने मार्क्स से वहुत पहले स्वामित्व को वदलने का नही, वरन् स्वामित्व को नकारने का समाधान दिया। यही समाधान सुख और शान्ति का मूल आधार वन सकता है क्योकि इसमे आवश्यकताओ और इच्छाओ पर स्वैच्छिक और मानसिक नियत्रण रहता है। और किसी के प्रति प्रतिक्रिया का भाव नही है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जव तक स्वामित्व वना रहता है चाहे वह व्यक्तिगत हो, चाहे समाजगत, सघर्प चलता है। जहा सघर्प है वहा हिंसा है। सघर्प और हिंसा को रोकने के लिये स्वामित्व का विसर्जन आवश्यक है। महावीर के अपरिग्रह सदेश मे स्वामित्व के रूपान्तर की नही, उसके विसर्जन की वात को रेखाकित किया गया है।

स्वामित्व के विसर्जन भाव को पुष्ट करने के लिये भगवान् महावीर ने एक ओर अणगार धर्म की प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर आगार धर्म की। अणगार धर्म के धारक श्रमण नितान्त अकिंचन और अपरिग्रही होते है जवकि आगार धर्म के धारक श्रावक अपनी इच्छा और आवश्यकता की मर्यादा करते हैं। मर्यादा से अधिक प्राप्त सम्पत्ति को वे अपनी नही, समाज की मान कर जनकल्याण मे उसका उपयोग करते हैं। इस प्रकार महावीर ने गृहस्थ श्रावको को उपदेश दिया कि वे शुद्ध साधनो के वल पर आवश्यकतानुसार अर्जन करें और मर्यादा से अधिक अर्जन का जन–कल्याणकारी कार्यो मे विसर्जन करें।

अर्जन और विसर्जन की यह प्रक्रिया समतावादी समाज रचना का मुख्य आधार है। यदि अपरिग्रह भाव को व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के स्तर पर प्रयोग रूप मे लाया जा सके तो विश्व के विभिन्न तनावो से मुक्ति मिल सकती है।



२६ त्याग परिपाटी नहीं, दायित्व-बोध है

त्याग का वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन मे बडा महत्त्व है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ त्याग के स्वरूप और फलक मे भी विस्तार होता गया है। अकर्म युग से कर्म युग मे प्रवेश के साथ ही व्यक्ति प्रकृति-निर्भरता से हट कर आत्म-निर्भर बना, उसमे श्रम की प्रतिष्ठा बढी। वह अपने लिए ही नही दूसरो के लिए भी जीने की अनुभूति करने लगा। जीवन-व्यवहार की आवश्यक वस्तुए सभी पैदा करते और आवश्यकतानुसार उनमे विनिमय होता। धीरे-धीरे विनिमय के लाभ ने अनावश्यक उत्पादन क्षमता बढाई और तब अर्थ-लोभ ने मुद्रा को मान्यता दी। मुद्रा के प्रचलन ने समाज में ऊच-नीच के कई स्तर पैदा कर दिये। समाज मे श्रम की अपेक्षा पू जी की प्रतिष्ठा बढ गई और कई प्रकार के शोषण होने लगे। इस शोषण से समाज को मुक्त कराने के लिए राज्य-व्यवस्था सामने आई। पर सत्ताधारियों की राज्य-लिप्सा समाज मे समता का वातावरण पैदा न कर सकी और भ्रष्टाचार बढता गया। औद्योगीकरण और तकनीकी विकास की द्रुतगामी प्रगति ने व्यक्ति को केवल मशीन का पुर्जा मात्र बना कर रख दिया।

पर व्यक्ति पुर्जा मात्र नही है, वह चेतन तत्त्व है। बाह्य जड तत्त्वो से घिरे रहने के कारण उसका परम चेतन तत्त्व धूमिल हो गया है। उसे सतेज बनाने की आज सबसे बडी आवश्यकता है। आज के बुद्धिजीवी व्यक्ति को उसके आत्मतत्त्व से परिचित कराने के लिए धर्माराधना को केवल परिपाटी के रूप मे नही, सामूहिक दायित्व बोध के रूप मे प्रस्तुत करना होगा।

सभी समाज-शास्त्री मानते हैं कि व्यक्ति की प्राणिशास्त्रीय अवस्था को सामाजिक रूप प्रदान करने मे भाषा परिवार, सस्कार, धर्म आदि का महत्वपूर्ण हाथ रहता है। धर्म ही व्यक्ति मे मानवीय सद्गुणो की सृष्टि करता है। धर्म तभी व्यापक बनता है जब व्यक्ति अपने अस्तित्व-बोध के साथ-साथ (अनुभूति) दूसरो के अस्तित्व रक्षण के लिए प्रयत्नरत होता है, उसमे सह-अनुभूति का भाव पैदा होता है, वह सहानुभूतिशील बनता है। आर्जव, मार्दव, क्षमा, तप, सयम, त्याग आदि धर्म इसी वृत्ति की उपज हैं।

भारतीय जीवन-पद्धति उत्सर्गमयी और त्यागप्रधान रही है। परन्तु आज के बढते हुए अर्थवाद ने सहयोग के स्थान पर प्रतिस्पर्धा, दान के स्थान पर सचय, सेवा

के स्थान पर स्वार्थ, उदारता के स्थान पर चतुरता और त्याग के स्थान पर भोग को प्रश्रय दिया है। फलत व्यक्ति अपनो के बीच रहते हुए भी पराया और अजनबी बन गया है। इस दुष्चक्र से व्यक्ति को मुक्त कराने के लिए त्याग धर्म को जीवन मे स्थान देना होगा।

त्याग का सामान्य अर्थ है छोडना, उत्सर्ग करना। छोडना क्या ? जो विजातीय द्रव्य है, जो हमारे प्रकृत स्वभाव को विपरीत बनाते हैं, उन्हे छोडना है। शरीर-रचना मे मल-मूत्र सस्थान विजातीय पदार्थों को बाहर निकालने मे मदद करता है पर आत्मा के साथ जो विजातीय पदार्थ चिपक गये है उन्हे दूर करना उत्तम त्याग-धर्म है। इसके लिए हमे तप और सयम का मार्ग अपनाना पडता है। यह त्याग का आन्तरिक रूप है। बिना तप और सयम सस्थान के आत्मा कषायादि विजातीय द्रव्यो से मुक्त नही हो सकती।

आवश्यकता से अधिक सचय न करना और अधिक सचित को जरूरतमद लोगो मे वितरित कर देना त्याग का दूसरा पक्ष है। यह समाजवादी राजव्यवस्था और समान-वितरण प्रणाली के अधिक अनुरूप है। इस सदर्भ मे त्याग को दान कहा गया है। त्याग का यह रूप केवल रूढिपालन नही है, सामूहिक दायित्व बोध का सक्रिय विधान भी है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरो से कुछ ग्रहण करता है और इसके बदले मे वह दूसरो को कुछ देता भी है। लेन-देन के इस सतुलन मे त्याग का यह दूसरा रूप अधिक सगत ठहरता है। इस भूमिका पर त्याग या दान का अर्थ ऊच-नीच का स्तर कायम करना नही वरन् आवश्यक जीवनदायी वस्तुओ का समवितरण करना है। आवश्यकता से अधिक सचय न करने की प्रवृत्ति पर धर्मशासन ने जितना बल दिया है उतना ही बल समाजवादी राजव्यवस्था भी देती है। आय के अनुरूप कर निर्धारण की पद्धति इसका सटीक उदाहरण है। विनोबा भावे द्वारा सचालित भूदान आदि आन्दोलन इसी भाव के व्यावहारिक प्रयोग है।

शास्त्रो मे त्याग के इस दूसरे पक्ष को केवल अर्थदान तक सीमित नही रखा गया है। ज्ञानदान, अभयदान, धर्मोपकरणदान, अनुकम्पादान आदि इसके अन्य रूप हैं। ये दान सात्विक दान की श्रेणी मे आते हैं। लोक व्यवहार मे आज कई अन्य प्रकार के दान प्रचलित हो गये हैं—जैसे राजनैतिक पार्टियो को चन्दा देना, अपना काम निकालने की भावना से पैसा देना। दान के ये लोक प्रचलित रूप राजसिक और तामसिक श्रेणी मे आते हैं।

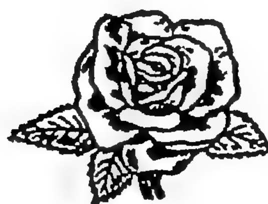
उत्तम दान के लिए आवश्यक है कि जो दान दे रहा है वह निष्काम भावना मे दे और जो दान ले रहा है उसमे किसी प्रकार को दीन भावना पैदा न हो। दान

देते समय दानदाता को मान-सम्मान भी भूख नही होनी चाहिए। निर्लोभ और निरभिमान भाव से किया गया दान ही सच्चा दान है। दाता के मन मे किसी प्रकार का ममत्व भाव न रहे। इसी दृष्टि से शास्त्रो मे गुप्तदान की महिमा बताई गई है।

दान की होड मे येन-केन प्रकारेण धन बटोरने की प्रवृत्ति आत्मलक्षी व्यक्ति के लिए हितकर नही हो सकती। दान मे मात्रा का नही, गुणात्मकता का महत्त्व है। नीति और न्याय से अर्जित सम्पदा का दान ही वास्तविक दान है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का सचय न कर दूसरो को दे देना लोक धर्म है, पर अपनी आवश्यक वस्तुओ मे से कमी करके उसे दूसरो के लिए देना आत्मधर्म है। इस दूसरे रूप मे ही व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियो का नियमन करता है।

यहाँ हमने जो कुछ कहा है इसका अर्थ यह नही कि जिनके पास आवश्यकता से अधिक है वे ही दान या त्याग कर सकते हैं। सच तो यह है कि त्याग ग्रहीत वस्तु का भी होता है और अग्रहीत वस्तु का भी। ग्रहीत वस्तु का त्याग करने वाला सामूहिक दायित्व बोध, सामाजिक न्याय, देश रक्षा, सार्वजनिक लोकोपयोगी कार्य जैसी प्रवृत्तियो मे विशेष सहायक बनता है। त्याग का यह बाह्य पक्ष है। ऐसा दाता भी जब व्रत नियमो आदि का पालन करने लगता है तब उसका यह त्याग भी वरेण्य बन जाता है। उत्तम त्याग का रूप अग्रहीत वस्तुओ के त्याग मे प्रस्फुटित होता है क्योकि इसमे त्यागी की इच्छाओ का सयमन होता है जो अधिक दुष्कर है। वस्तु को दूसरे को देने की अपेक्षा उस वस्तु से ममत्व हटा लेना बडा मुश्किल है। त्यागी महात्माओ को अपने शरीर से भी ममत्व नही होता, इसलिए वे हम सबके वन्दनीय हैं।

त्याग का चाहे बाह्य रूप हो, चाहे आन्तरिक, दोनो तप और सयम के बिना फीके हैं। तप और सयम को जिस अनुपात मे धारण करता हुआ व्यक्ति त्याग की ओर बढेगा, उसकी आत्मा उतनी ही तेजोदीप्त होगी और सामूहिक दायित्व बोध का भाव निखरेगा।



२७ सामायिक शुद्ध और सतेज बने

भारतीय दर्शन मे आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को केन्द्र मानकर विचार और आचार के धरातल पर अनेकविध दार्शनिक मान्यताएँ और साधना पद्धतिया विकसित हुई है । कही आत्मा के परमात्म भाव मे विलीन करने की बात कही गयी है तो कही आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मान्यता देते हुए उसे परमात्म स्थिति तक ऊँचा उठाया है । कही कुण्डलिनी जागृत कर, उसे ऊर्ध्वमुखी बनाकर, सहस्रकमल दल से अमृत पान करते रहने का विधान किया गया है तो कही आत्मा के साथ चिपके हुए कर्मपुद्गलो का दलन कर, राग-द्वेप का समूल उन्मूलन कर निर्वाण प्राप्ति की भावना का लक्ष्य बनाया गया है । दार्शनिक मान्यताओ और साधना-प्रणालियो मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार किंचित् अन्तर और भेद हो सकता है पर सबका मूलभूत लक्ष्य है—सुख-दु ख की स्थिति से ऊपर उठकर अनन्त, अखण्ड और अव्याबाध आनन्द मे रमण करना ।

जैन साधना पद्धति मे इस आनन्दानुभूति को प्राप्त करने के अभ्यास-क्रम मे सामायिक भावना का विशेप महत्त्व है । सामान्य साधक इससे अपनी साधना आरम्भ करता है और श्रमणत्व को प्राप्त सत आजीवन इसी साधना मे निरत रहता है । सामायिक का महत्त्व इतना अधिक है कि इसे बारह व्रतो मे, छह आवश्यको और पांच चारित्रो मे समान रूप से स्थान दिया गया है ।

'सामायिक' शब्द 'समाय' से बना है उसी प्रकार जैसे समाज से सामाजिक बना है । समाय मे दो शब्द हैं—सम + आय अर्थात् ऐसी साधना और क्रिया जिसमे 'सम' अर्थात् समता भाव की 'आय' अर्थात् प्राप्ति हो । सामायिक मे साधक सुख-दु ख, लाभ-अलाभ, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र आदि विषम भावो मे राग-द्वेप न करता हुआ, साक्षी भाव से उनका ज्ञाता-द्रष्टा बनकर, समता स्वभावी आत्मा मे स्थित रहता है । वर्तमान अर्थ प्रधान युग मे अर्थ-सचय के प्रति व्यक्ति का आकर्पण इतना अधिक बढ गया है कि वह येनकेन प्रकारेण अर्थ-सग्रह करना चाहता है और अर्थार्जन के स्रोतो की शुद्धि पर उसका विशेप ध्यान नही रहता । अशुद्ध स्रोतो से भी धन बटोर कर वह धनिक बनने मे गौरव अनुभव करता है । साधना के क्षेत्र मे भी इस तरह की वृत्ति पनपने लगी है । आज व्यक्ति सामायिक तो करता है पर समभाव की शुद्ध

आय उससे हो नही पाती । उसका समता भाव राग-द्वेषादि से अशुद्ध बना रहता है । उसका मन सामायिक मे बैठा हुआ भी विषम भावो मे दौडता रहता है । इसलिये सामायिक साधना का विशेष प्रभाव उसकी जीवन-चर्या पर परिलक्षित नही होता ।

समभाव की शुद्धता और आजीविका के साधनो की शुद्धता का परस्पर गहरा सम्बन्ध है । जब तक हमारी आजीविका के साधन शुद्ध नही होंगे, समभाव की स्थिति मे हम नही पहुँच पायेंगे । इस सम्बन्ध मे पूरिणया श्रावक की सामायिक का सदर्भ विशेष अर्थपूर्ण है । राजा श्रेणिक ने भगवान महावीर से अपनी अशुभ गति के बध से मुक्त होने का उपाय पूछा तो भगवान महावीर ने पूरिणया श्रावक की सामायिक खरीदने को कहा । पर उसे खरीदना श्रेणिक के वश की बात नही थी, क्योकि उसका मूल्य द्रव्य पर आश्रित नही था । भावना की निर्मलता और शुद्धता ही उसका मूल्य था । इसका सकेत एक प्रसग में मिलता है । कहा जाता है कि एक दिन पूरिणया श्रावक सामायिक साधना मे स्थिर न रह सके । उनका मन उद्विग्न हो उठा । उन्होने अपनी पत्नी से पूछा कि आज हमारे घर में कही से अनीति का पैसा तो नही आया है, क्योकि आज मेरा मन सामायिक में स्थिर नही रह रहा है, पत्नी ने काफी सोच विचार के बाद कहा—और तो कोई बात मेरे से नही हुई है पर हा, सवेरे रोटी पकाने के लिये जब मैं पडौसी के घर से आग लेने गयी थी, वहा गृह-स्वामिनी को बिना पूछे कडा ले लिया और उसी पर आग ले आई । पूरिणया श्रावक को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया ।

घटना बहुत साधारण है पर उतनी ही अर्थ व्यजक है । आग पर पकाई रोटी अशुद्ध आय से खरीदी हुई नही है । आग भी बिना पूछे नही लाई गई है । केवल कडा, जिस पर रखकर आग लाई गई है, वह बिना पूछे उठा लिया गया, जिसका परिणाम हुआ मन की चचलता । क्षमा याचना सहित कडा वापिस लौटाने पर ही मन स्थिर हो सका । यह है पूरिणया श्रावक की सामायिक की शुद्धता और तेजस्विता । पर आज तो अधिकाश लोगो की रोटी और रोजी तथा अर्जन के स्रोत शुद्ध और पवित्र नही हैं फिर जीवन मे समता कैसे आ सकती है ?

जीवन मे समता आये, मन समभाव मे विचरे, इसके लिये आवश्यक है कि हमारी आजीविका के स्रोत शुद्ध हो । इसके लिये जरूरी है कि आवश्यकता कम हो, और आवश्यकताओ की कमी अहिंसा, सयम, तप की साधना से ही सम्भव है । इसी बिन्दु पर सामायिक सार्थक बन पाती है ।



२८ | सामायिक मन की हो

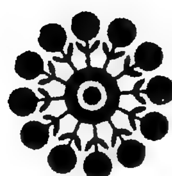
सामायिक धर्म-साधना का प्रमुख अग है। शायद ही कोई ऐसा व्रतधारी स्त्री-पुरुष हो, जो प्रतिदिन नियमित रूप से सामायिक न करता हो। मुसलमानो मे नमाज और वैदिक धर्मावलम्बियो मे सध्या की तरह जैन धर्मावलम्बियो मे सामायिक का प्रचलन है। सामान्य रूप से सामायिक ४८ मिनट की साधना है, जिसमे व्यक्ति सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भ से दूर हटकर, धर्म-ध्यान एव आत्मचिन्तन मे लीन रहता है। कई लोग एक दिन-रात मे एक से अधिक सामायिक करते है। कुछ के तो यह सख्या ५-६ सामायिक तक भी पहुँचती है।

सामायिक साधना का स्वरूप बहुत सूक्ष्म और गहरा है। इसका मुख्य उद्देश्य समता-भाव प्राप्त करना है। समता-भाव का अर्थ है—सुख-दु ख मे, प्रिय-अप्रिय मे, लाभ-हानि मे, शत्रु-मित्र मे, निन्दा-प्रशसा मे, जीवन-मरण मे मन को विचलित न होने देना। सामान्य स्थिति मे जब कोई प्रिय, इष्ट या सुख का प्रसग आता है तब मन मे यह भावना उठती है कि यह प्रसग बना रहे, उसके प्रति राग और आसक्ति गहरी होती जाती है। इसके विपरीत जब कोई अप्रिय, अनिष्ट या दु ख का प्रसग आता है, तब मन मे यह भावना जगती है कि यह स्थिति जल्दी दूर हो। मन मे इसके प्रति द्वेष भावना बढती जाती है। राग-द्वेष की यह स्थिति विषमता को जन्म देती है। इससे मानसिक तनाव और सक्लेश बढता है, व्यक्तित्व का बिखराव होता है। अत अनुभवी साधको ने कहा है कि ऐसी विषम परिस्थिति मे शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये मन मे समता-भाव, वीतराग-भाव, वीत-द्वेष-भाव लाने का अभ्यास करना चाहिये। इस अभ्यास की साधना का नाम ही सामायिक है। यह अभ्यास ज्यो-ज्यो परिपक्व होता जाता है, त्यो-त्यो समता-भाव पुष्ट होता जाता है और एक स्थिति ऐसी आती है, जब शरीर और आत्मा भिन्न प्रतीत होने लगते है। तब साधक सामायिक करता नही, वह सचमुच सामायिक मे होता है। इसी अर्थ मे "समय" को आत्मा कहा गया है।

सामायिक के उक्त गहरे अर्थ को समझकर सामायिक करने वाले आज बहुत कम है। अधिकाश लोग तो सामायिक को "रूटीन" मात्र मानते है। उनका अभ्यास साधना का जीवित अग न रहकर, मशीन का पुर्जा मात्र बन जाता है। सामायिक

की यह यान्त्रिकता उनमे हार्दिकता का विकास नही करती । ऐसे लोगो की सामायिक तन की सामायिक होती है । वे सामायिक के आवश्यक उपकरण आसन, रजोहरण, मुँहपत्ती, धोती, दुपट्टा, स्वाध्याय योग्य पुस्तक, नामस्मरण योग्य माला आदि का आश्रय तो ले लेते है, पर विपम भावो और स्थितियो मे समता-भाव रखने योग्य मानसिक क्षमता और दक्षता का विकास नही कर पाते । परिणामस्वरूप जीवन-पर्यन्त सामायिक करके भी वे अपनी अभिवृत्तियो और जीवन-व्यवहार मे परिवर्तन नही ला पाते ।

कई वार ऐसा देखने मे आता है कि सामायिक-साधना मे बैठा हुआ व्यक्ति, जव सामायिक करके उठता है तो उठते ही वह किसी पर उवल पडता है, किसी को वुरा-भला कहता है, तो समझना चाहिये कि उसकी सामायिक केवल उपकरणो तक सीमित थी । जीवन मे परिवर्तन, कठिन परिस्थितियो मे धैर्य और विषम परिस्थितियो मे सन्तुलन बनाये रखने की योग्यता का विकास करने के लिये यह आवश्यक है कि हम तन की सामायिक से ऊपर उठें और मन की सामायिक करें । मन की सामायिक के लिये ही अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म की परिपालना का उपदेश भगवान् महावीर ने दिया है ।



२६ ज्ञानी होने का सार अहिंसक होना है

आज पहले की अपेक्षा ज्ञान प्राप्ति के साधन और ज्ञान-वितरण के उपकरण अधिक बढ गये हैं। इससे ज्ञान-साधना अब उतनी कठिन और दुसाध्य नही रही है। स्कूलो, कॉलिजो और विश्वविद्यालयो मे प्रवेश के लिए बढता हुआ दवाव और क्यू मे खडी भीड इस बात का प्रतीक है कि सभी ज्ञान के प्यासे है। नियमित और अनियमित छात्रो के रूप मे प्रतिवर्ष हजारो-लाखो छात्र विभिन्न परीक्षाओ मे बैठते हैं और ज्ञानी होने का प्रमाण-पत्र प्राप्त करते है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि आज ज्ञान का समाजीकरण और व्यवसायीकरण हो गया है।

ज्ञान का यह व्यापक प्रचार-प्रसार और वितरण हमे यह सोचने के लिए विवश करता है कि ज्ञान के इस विस्फोट का हमारे जीवन, समाज, राष्ट्र और विश्व पर क्या प्रभाव पडा है? क्या इस ज्ञान-प्रसार से जीवन मे शान्ति, समाज मे सुरक्षा और विश्व मे मैत्री तथा प्रेमभाव का सचार हुआ है? क्या हम पूर्वापेक्षा अधिक सुखी, सुरक्षित और निर्भीक बने हैं? क्या हमारी चेतना ऊर्ध्वमुखी हुई है? और हम प्राणी मात्र के प्रति प्रेम, करुणा और दया का भाव विकसित कर सके है? इन और इन जैसे अन्य प्रश्नो के उत्तर नकारात्मक ही मिलेंगे और इसका सबसे बडा कारण यही है कि हमने ज्ञान को मस्तिष्क की तर्कशक्ति के विकास रूप मे ग्रहण किया है, हृदय के प्रसार रूप मे नही। यही कारण है कि ज्ञान के द्वारा हम अपनी स्वार्थ पूर्ति और इन्द्रिय भोगो की तुष्टि करना चाहते हैं। अधिक से अधिक परिग्रह बढाना चाहते हैं। भौतिक समृद्धि अधिक से अधिक किस प्रकार प्राप्त हो, इसी की खोज और प्राप्ति मे हम अपने प्राप्त ज्ञान की तकनीक का उपयोग करना चाहते हैं।

यह सही है कि विभिन्न क्षेत्रो मे ज्ञान के द्वारा जिस तकनीक का विकास हुआ है उससे हमारी इन्द्रियो की शक्ति बहुत अधिक बढी है। हम चश्मे का उपयोग कर दूर-दूर तक देख सकते हैं। सूक्ष्म दर्शक यत्र से छोटी वस्तु को बडे रूप मे देखकर उसकी जाच पडताल कर सकते है। श्रवण यत्र का प्रयोग कर दूर-दूर तक सुन सकते है। हीटर और कूलर का उपयोग कर तापमान पर नियन्त्रण कर उसे अपने अनुकूल बना सकते हैं। यातायात और सचार के माध्यमो द्वारा समय और दूरी पर भी हमने नियन्त्रण कर लिया है। पर इन सब साधनो के द्वारा हमने

अपने स्वार्थ और परिग्रह के क्षेत्र का विस्तार ही किया है और इस विस्तार से हमारा मन एकाग्र होने की बजाय व्यग्र ही बना है। हमारी इन्द्रिया सयमित होने के बजाय उत्तेजित ही हुई हैं। अपने आत्मस्वरूप मे तन्मय होने के बजाय अन्तरद्वन्द्वो मे उलझकर हमने तनाव ही बढाया है। इस प्रकार ज्ञान के इस विस्फोट से वैयक्तिक, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिंसा और परिग्रह का क्षेत्र विस्तृत और जटिल बना है। इन्द्रियो की बढी हुई शक्तिया नैतिक और सामाजिक विकास मे सहायक न होकर भोगवृत्ति मे उलझकर सयम के अभाव मे आत्मशक्ति के क्षरण में सहायक बनी हैं।

भगवान् महावीर ने 'सूत्रकृताग' मे कहा है कि—"एव खु नाणिणो सार ज न हिंसइ किचण" अर्थात् ज्ञानी होने का सार है किसी भी प्राणी की हिंसा न करना। पर आज का तथाकथित ज्ञान हिंसा का साधन बन गया है। अणुबम के आविष्कार ने हिंसा की सभावनाओ का अनन्त विस्तार कर दिया है। शस्त्रीकरण की होड मे सभी राष्ट्र बेतहाशा दौडे जा रहे हैं। शस्त्र की शक्ति का विकास चरम सीमा पर है। कभी भी पद, यश, प्रभुता, शक्ति और सत्ता के उन्माद मे बम छूट जाय तो पूरी मानवता क्षण भर मे नष्ट हो सकती है। शताब्दियो के अनुभव और प्रयत्न से मनुष्य ने जो सभ्यता का विकास किया है वह जडमूल से पल भर मे विनष्ट हो सकता है। मानव सभ्यता के इतिहास मे ज्ञान के विस्फोट से ऐसे सामूहिक विनाश की सभावना कभी नही बनी रही।

सत कबीर अधिक पढे-लिखे नही थे। पर उन्होने ज्ञान को प्रेम की आच से पकाया था और उसका आस्वादन किया था। उस अनुभूति से ही वे कह सके—

> कबीरा बादल प्रेम का, हम पर बरखा आय।
> अन्तर भीगी आत्मा, हरी भरी बनराय॥

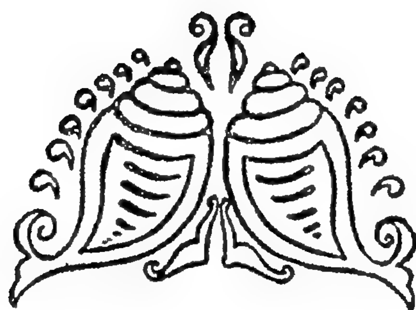
प्रेम के बादल की वर्षा केवल बाहरी शरीर को ही नही भिगोती, उससे अन्तर का रोम-रोम भीग उठता है। जब प्रेम रग-रग मे समा जाता है तो फिर अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके साथ आत्मोपम्य सबध स्थापित हो जाता है। अपनी प्राण चेतना और दूसरो की प्राण चेतना मे भावनात्मक स्तर पर कोई अतर नही रहता। सर्वत्र प्रेम के प्रभाव से हरियाली ही हरियाली दिखाई देती है। इसे ही ज्ञानियो ने अहिंसा और मैत्रीभाव कहा है।

जब ज्ञान प्रेम का रूप धारण करता है, तभी अहिंसा की शक्ति का विकास होता है। इस शक्ति से ही शस्त्र की शक्ति समाप्त हो सकती है। पर आज का सकट यह है कि अहिंसा की शक्ति के नाम पर शस्त्रीकरण की प्रतिद्वन्द्विता बढती जा रही है और तथाकथित ज्ञान उसमे सहायक हो रहा है। जब तक ज्ञान का सम्बन्ध

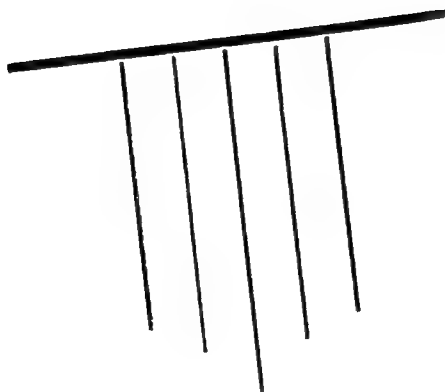
हिंसा के साथ बना रहेगा, तब तक विश्व शान्ति स्थापित नही हो सकती। कबीर की निम्न पक्तिया तथाकथित ज्ञानियो के लिए आज भी चुनौती हैं—

पोथी पढ-पढ जग मुआ, पडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढे सो पडित होय।।

स्पष्ट है कि कोरा ज्ञान भार स्वरूप है। जब तक वह आभार नही बनता, तब तक दो हृदयो को जोडने की क्षमता उसमे पैदा नही हो सकती। जो यह क्षमता पैदा कर सकता है वही सच्चा ज्ञानी और सम्यक् ज्ञान है। इस दिशा मे हमारे सगठित प्रयत्न हो और विश्व स्तर पर अहिंसा के क्षेत्र मे कार्य करने वाले सगठन परस्पर जुडें, यह आज के युग की माग और आवश्यकता है।



द्वितीय खण्ड



जीवन - व्यवहार

३०

बसन्त प्रकृति में ही नहीं, जीवन और संस्कृति में भी आये !

ऋतु-चक्र अपनी गति से स्वाभाविक रूप से चलता रहता है। मनुष्य अपने बुद्धि-बल और तकनीकी विकास से उसकी गति को बदल या रोक नही पाता पर उसके प्रभाव और परिणामो को पहले या पीछे अनुभव करने का प्रयत्न अवश्य करता है। इससे प्रकृति की सहजता से उसके सम्बन्ध छूटने के अवसर बढते जाते हैं और वह अपने ही ससार मे बद/कैद हो जाता है। कहने को तो कहा जाता है कि उसने प्रकृति को सुसस्कारित/सुसयोजित या नियत्रित कर सस्कृति का निर्माण कर लिया है, पर क्या वास्तव मे वह सुसस्कारित बन सका है ? प्रकृति का मानवीय सदर्भ मे अर्थ है—उसकी सहज जन्मजात प्रवृत्तिया यथा—भूख, भय, काम आदि। इन पर नियत्रण या सयमन करने का अर्थ है—अपनी चेतना का विकास करना, उन्हे ऊर्ध्वमुखी बनाना। पर भूख, भय और काम की प्रवृत्ति भौतिक साधनो की प्रगति के साथ-साथ बढती ही नही जा रही है, वह अनियत्रित और असीम भी होती जा रही है। प्रकृति को सस्कारित बनाने की होड मे कही ऐसा तो नहीं है कि मनुष्य-बुद्धि विकृति की ओर सक्रमित हो रही है ? सहज नियमो का परित्याग और बृहत् जीवन क्षेत्र से कटकर अपनी क्षुद्रता में सिमट जाना ही तो विकृति है। आज विकृति नानाविध रूपो मे उभर कर सामने आ रही है।

देखिये न ! घर के बाहर खडे पौधे और वृक्ष लहलहा उठे हैं, पत्तो मे रौनक आ गई है, फूल मुस्कुराने लगे हैं, भँवर गूँजने लगे है; पर हम हैं कि वैसे के वैसे उदास, मुँह लटकाये अपने ही दायरो/घरो मे कैद। उद्यान और जगल के पेड-पौधे इस होड मे हैं कि कब हम उत्फुल्ल हो, विकसित हों, फलित हो और दुनिया को अपनी खुशबू, अपना सौरभ, अपना रस बाटें और हम अपनी पार्टी, बस्ती, सम्प्रदाय, गच्छ, गुवाड, सस्था को इस प्रकार जकडे हैं कि कही उसे खुलेपन की, नये आकाश की, बसन्त के बहार की हवा/दस्तक न लग जाये। क्योकि हम अपनापन/अपना धन दूसरो को बाटना नही चाहते, दूसरो को देना नही चाहते, दूसरो का बटोरना/छीनना, उसे अपने मे मिलाना/छुपाना चाहते हैं। इसीलिये तो प्रकृति मे बसन्त आया है पर हमारे जीवन और सस्कृति मे नही।

हम जीवन और सस्कृति मे बसन्त के स्थान पर ला रहे हैं प्रदूषण। भारभूत

लगने वाले सोने-चाँदी के आभूषण तो हमने उतार कर फेंक दिये । अच्छा ही किया, पर आभूषणो का स्थान अब प्रदूषण ले रहा है और इसी मे हम खुश हो रहे हैं/नाच रहे है, गा रहे हैं । घरो मे यह कैसी सडाव भरी बदबू चली आ रही है । नदियो-समुद्रो मे विषैले तरल पदार्थों का बहाव, खुले उन्मुक्त नील गगन मे समाता हुआ यह दमघोटू धुआ और चेतना को मदहोश व कुन्द बनाने वाला यह रक्तरजित हाहाकार और वेदना का ससार । कही इति है इसकी ? इस बदलती फिजा और दौडते काल-रथ मे भी प्रकृति ने तो वसन्त का सस्पर्श पा ही लिया, भले ही वह अल्पजीवी हो, पर मनुष्य जिसमे वसन्त को चिरजीवी और सनातन बनाने की क्षमता है, वह उसका स्पर्श नही कर पा रहा है, यह कैसी विडम्बना और दुखान्तिका है ?

हमे इस ठहराव और गतानुगतिकता को तोडना है । जिन्दगी के वृन्दावन मे नये ताजे फूलो की सुगन्ध बिखेरनी है । ऐसी गन्ध जो हमे और अधिक सुलाये नही, वरन् हमारे रोम-रन्ध्र को चैतन्य बनाये/जागृत करे । मूल्यो का पतझड बहुत हो चुका । अब तो सद्वृत्तियो का वसन्त विकसाना है, ठूठ मे भी नयी जिन्दगी का रक्त प्रवाहित करना है । न जाने कितने पद-दलित कुचले/रुँधे कठ गाने को उत्सुक है । मेरी सस्कृति के वसन्त ! उन्हे स्वर दो, गीत दो, उठने/उगने का स्वाभिमान और स्वातन्त्र्य दो ।



३१ प्राकृतिक सन्तुलन न बिगड़ने दें

प्राकृतिक जीवन सहज व सरल होता है। इसमे इच्छाएँ सीमित व मर्यादित होती हैं। आत्म-गुणो के रक्षण व सवर्द्धन मे इससे बडी सहायता मिलती है पर ज्यो-ज्यो प्राकृतिक जीवन वाधित होता है, मानवीय जीवन की सरलता व सहजता भी सकटग्रस्त हो उठती है। आज हम इसी दौर से गुजर रहे हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण आन्तरिक विकारो को नष्ट कर आत्मा की शुद्धता व निर्मलता पर वल देता है। वाह्य शुद्धि की ओर उसका विशेप लक्ष्य नही रहता। आन्तरिक पवित्रता का प्रभाव वाह्य अशुद्धता का वातावरण निर्मित ही नही होने देता। उससे प्रकृति का सन्तुलन वरावर वना रहता है। प्राकृतिक नियमो की अनु-पालना से विकृति का विस्तार नही हो पाता वरन् प्रकृति स्वत सस्कारित होती रहती है।

पर मनुष्य की अतृप्त इच्छाओ व अनियन्त्रित आवश्यकताओ ने प्रकृति के शान्त वातावरण को क्षुब्ध कर दिया है। मनुष्य का अन्तर तो राग-द्वेषादि विकारो से दूषित था ही, पर अव प्राकृतिक प्रदूषण से उसका वाहरी ससार भी विषाक्त वन गया है। अत अव उसका दु ख और सक्लेश चरम सीमा पर है।

मानव-वुद्धि ने अपनी सूक्ष्म ज्ञान-शक्ति से आत्म-नियत्रण करने की वजाय प्राकृतिक नियमो का उल्लघन करने मे अपना हित समझा पर आज उसकी भूल के नतीजे स्पष्ट होते जा रहे हैं। शेप सृष्टि के साथ रागात्मक सवधो के स्थान पर मानव ने प्रतिशोधात्मक सवध स्थापित कर लिये हैं। पेड, पौधो, वनस्पति, वन्य जीवो आदि के प्रति मानव का वह दुलार नही रहा जो उसे आत्म-विस्तार का आनद देता था। अब तो वह इन सवका सफाया कर अपने ही स्वार्थ मे कैद हो गया है। परिणामस्वरूप अव प्रकृति से उसे प्यार नही मिल पाता, मिलता है तनाव, ताप और प्रतिकार। वढती हुई जनसख्या, महानगरीय विकास, अनियन्त्रित औद्योगी-करण आदि के दुष्प्रभाव ने जल, थल और वायु के पर्यावरण को दूपित कर दिया है। हर साँस के साथ जाने वाली हवा अव प्राणशक्ति नही भरती, घुटन पैदा करती है, हर घूँट के साथ जाने वाला जल अव ताजगी नही देता, तपन पैदा करता

है। कीटनाशक दवाइयो और रासायनिक उर्वरक खाद ने धरती की उर्वरकता को सोख लिया है। मिट्टी का स्पर्श अब गन्ध नही देता, सडान्ध पैदा करता है।

अन्धाधुन्ध लोभ-लिप्सा और सग्रहवृत्ति ने प्रकृति का अतिसीमान्त दोहन कर उसकी रसवत्ता को अवरुद्ध कर दिया है। अत आज सम्पूर्ण मानव जाति के अस्तित्व को भयकर खतरा स्वय उसके क्रियाकलापो से पैदा हो गया है।

हम शात चित्त होकर सोचें कि मनुष्य केवल शरीर ही नही है, उसके इर्द-गिर्द एक जीवित समाज है, पेड हैं, पौधे है, अन्य जीवधारी हैं। "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है। अत हम सबका कर्तव्य है कि हम स्वय जीवित रहने के लिए दूसरो को जीवित रहने का अवसर दें और उनकी जीवन-रक्षा मे बराबर सहयोगी बनें।



३२ परिवर्तन की प्रक्रिया

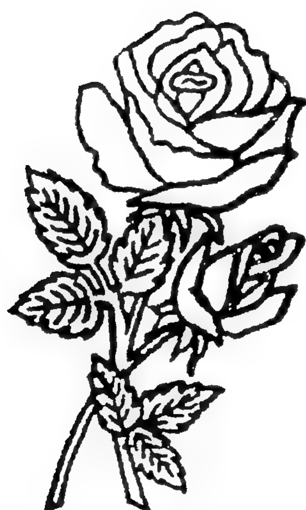
आज आधुनिकता के नाम पर परम्परागत मूल्यो का अध्ययन-अनुशीलन किए विना ही उन्हे नकारने की प्रवृत्ति हावी होती जा रही है। फलस्वरूप पुरानी व्यवस्था टूटने लगी है। परिवर्तन काल का स्वभाव है और जीवन्तता का सूचक भी। पर यह परिवर्तन उपकारक होना चाहिये न कि अपकारक। प्रकृति मे भी परिवर्तन निरन्तर होता रहता है, फिर चेतना-सम्पन्न बुद्धिशील प्राणी उससे वचित कैसे रह सकता है ? बुद्धि का सम्यक् उपयोग और विवेक इस बात मे है कि परिवर्तन-प्रक्रिया की सही पहचान की जाय और उसके आलोक मे समता मूलक नव समाज रचना के लिये सघर्ष किया जावे।

कोई भी सघर्ष तव तक प्रभावी नही वन सकता, जव तक कि उसके पीछे जीवनगत आस्था और सगठनात्मक शक्ति न हो, महान् उद्देश्यो के लिये समर्पण और वैयक्तिक आवेगो से ऊपर उठने का उत्साह न हो, रचनात्मक कार्यक्रम और व्यापक लोकहित की भावना न हो। कहना न होगा कि आज के अधिकाश सघर्षात्मक आन्दोलन मूल्य-परिवर्तन के आन्दोलन न होकर सामयिक ऊपरी उथल-पुथल के आन्दोलन हैं, इसीलिये वे गहरे उतर कर जीवन और समाज मे नवीन जागरण और क्रान्ति नही ला पाते। उनकी पहुँच वाहरी फूल-पत्तो तक ही सीमित रह जाती है और वे फूल-पत्तो के मूल शक्ति-स्रोत वीज और जड को प्रभावित नही कर पाते। फलस्वरूप उनका व्यापक परिणाम सामने नही आता।

परिवर्तन या क्रान्ति के लिये आवश्यक है—सडी गली व्यवस्था और प्रगति विरोधक शक्तियो को जडमूल मे नष्ट करना और प्रगतिशील शक्तियो की जडो को मजवूती से प्रतिस्थापित करना। इसके लिये कठिनाइयो के वावजूद भी अपने उद्देश्यो मे दृढ आस्था, अदम्य साहस, नि शेष समर्पण और अगाध विश्वास का होना पहली शर्त है।

आपने देखा होगा—पतझड मे वृक्ष के पत्ते झड जाते हैं पर वृक्ष पत्रहीन होकर भी सीधा तना रहता है और वसन्त के आते ही वह पुन लहलहा उठता है। यह सव कव सभव हो सकता है तव जवकि वृक्ष अपनी जडो के साथ मजवूती से

चिपका हुआ है, ठहरा हुआ है। यदि जडो मे वृक्ष को थामे रखने की शक्ति नही है तो वह गिर पडेगा और लाख वसन्त आने पर भी लहलहायेगा नही, महकेगा नही। ठीक यही बात व्यक्ति के मन की है, क्रान्ति के क्रम की है। जब भी व्यक्ति परिवर्तन के लिये पहल करे आवश्यक है कि वह अपनी आस्था और विश्वास की जडो से चिपका रहे, जब कभी अपने को एकाकी या असहाय महसूस करे, वह गहरे मे उतरता जाये, तब निश्चित है—वसन्त उसको चूमेगा, उसका मन-उपवन महकेगा।



३३ जीवन का मूलाधार संघर्ष नहीं सहयोग

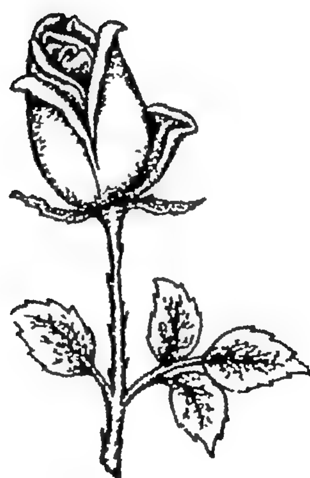
आज चारो ओर स्वार्थ, सत्ता लिप्सा और प्रतिद्वन्द्विता का वातावरण है। व्यक्ति प्रकृति निरर्भता से छूट कर आत्मनिर्भरता की ओर अवश्य बढा पर सग्रह-वृत्ति और इन्द्रिय-भोग ने उसे आत्मीय बनने की अपेक्षा सघर्षशील अधिक बना दिया। कुछ ऐसे विचारक भी हुए, जिन्होंने द्वन्द्व और सघर्ष को प्रगति के लिये आवश्यक माना। उनका यह दृष्टिकोण वस्तुत जीवन की निष्क्रियता दूर कर सतत जागरूक बने रहने की प्रेरणा देने के रूप मे ही विकसित हुआ था, परन्तु उसे ठीक रूप मे न समझने के कारण सघर्ष को जीवन का मूल आधार मान लिया गया। सच्चाई यह है कि सघर्ष से सघर्ष बढता है, वैर बढता है, हिंसा बढती है और कभी सच्ची सुखानुभूति नही हो सकती। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की स्थिरता, प्रगति और समृद्धि सघर्ष पर आधारित न होकर, सहयोग पर आधारित है और सहयोग ही व्यक्ति का मूल स्वभाव है।

यदि हम प्राणियो के विकास-क्रम को ध्यान से देखें तो हमे विदित होगा कि जिस प्राणी मे सहयोग की भावना जितनी अधिक है वह प्राणी, शरीर, इन्द्रिय, मन आदि की दृष्टि से उतना ही अधिक विकसित और सम्पन्न है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय जीवो तक के क्रिया-व्यापार मे यह तथ्य देखा जा सकता है। पचेन्द्रियो मे भी सज्ञी (मनस्क) पचेन्द्रिय जीव अधिक सहयोगी स्वभाव वाले हैं। पशुओ की सहयोग भावना का दायरा केवल उनके परिवार तक ही सीमित रहता है और वह भी एक निश्चित अवधि तक। मानव जाति मे सहयोग की यह भावना परिवार से बढकर समाज, राष्ट्र व विश्व तक परिव्याप्त देखी जाती है।

सहयोग की इस भावना का मूलाधार है—आत्मीय भाव का विस्तार। ज्यो-ज्यो यह भाव विकसित होता जाता है, त्यो-त्यो व्यक्ति स्वार्थ को छोडता जाता है। वह अधिक से अधिक देकर कम से कम लेना चाहता है और अन्तत वह एक ऐसी स्थिति पर पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने प्रति भी किसी प्रकार का ममत्व भाव नही रखता। यही समाधि की अवस्था है। आत्मा का विस्तार हुए विना सच्चे सहयोग भाव का उद्रेक नही हो पाता। अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त की साधना आत्मभाव के विस्तार की ही साधना है। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम' अर्थात्

परस्पर उपकार करते हुए जीना ही वास्तविक जीवन है। यह सूत्र ही सच्चा जीवन धर्म है। हम जिस अनुपात मे इस सूत्र को अपने जीवन-व्यवहार मे चरितार्थ कर पायेंगे, उतने ही अर्थों मे हम अपने को अर्थवान् बना पायेंगे।

पहले की अपेक्षा आज सहयोग का क्षेत्र अधिक विस्तृत और वैविध्यपूर्ण बन गया है। यातायात और सचार के साधनो ने स्थानगत दूरियाँ कम कर दी है पर सघर्ष के कारण मन की दूरियाँ अधिक बढ गई हैं। विषमता की खाइयाँ अधिक चौडी हो गई है। इन्हे पाटा जा सकता है केवल आत्मीय भाव का विस्तार करके ही। यह आत्मीय भाव किसी वर्ण, जाति, मत या स्थान विशेष से बँध कर नही रहता। इसका अनन्त हृदय, इसकी अनन्त करुणा सबके लिये है और सब इसके लिये।



३४ वरदान को अभिशाप में न बदलने दें !

मनुष्य जन्म मिलना अत्यन्त कठिन है। अनन्त पुण्योदय होने पर ही मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। गोस्वामी तुलसीदास के शब्दो में 'बडे भाग मानुस तनु पावा।' सचमुच मानव-जीवन की प्राप्ति सबसे बडा वरदान है, क्योकि मनुष्य मे ही अपना हिताहित समझ कर काम करते रहने की क्षमता है।

बाह्य वृत्तियो की दृष्टि से मनुष्य और पशु मे कोई विशेष अन्तर नही है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन जैसी वृत्तियाँ दोनो मे समान हैं, पर धर्म ही एक ऐसी वृत्ति है, जो दोनो को अलग करती है। धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक शक्ति और विवेकशीलता से है। इन दोनो के सम्मिलित प्रभाव से प्रज्ञा का जन्म होता है। मनुष्य अपनी प्रज्ञा के बल पर ही वर्तमान मे जीवित होते हुए भी अतीत को पढ पाता है और उससे प्रेरणा ग्रहण कर सकता है, साथ ही भविष्य के निर्माण की तस्वीर भी अकित कर सकता है।

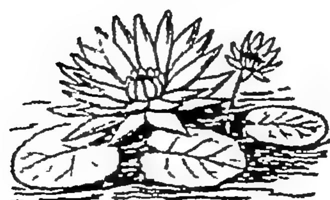
शास्त्रो मे कहा गया है कि जीव चार कारणो से मनुष्य गति का आयुष्य बाधता है—सरल प्रकृति से, विनीत प्रकृति से, दया भाव से और अनीर्ष्या भाव से। मनुष्य गति मिल जाना एक बात है पर उसे देवत्व मे परिणत करना दूसरी बात है। मानवीय सद्‌गुणो के विकास से ही यह सम्भव बनता है। अच्छा बनने की निरन्तर कोशिश करते रहना देवत्व की ओर बढना है। अपने आचरण की पवित्रता और आन्तरिक शक्ति को प्रकट करके ही मनुष्य जीवन को सार्थक किया जा सकता है। जो व्यक्ति मानव जन्म पाकर के भी इसे आलस्य, इन्द्रिय-भोग, वैर-विरोध आदि मे लगा देते है, वे जीवन हार जाते हैं।

मनुष्य अपने परिवेश से पहचाना जाता है। यदि उसके चारो ओर प्रेम का समुद्र उमडता है, मैत्री की किरणें बिखरती हैं और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य है तो उसका जीवन अमृत है, पर यदि आलस्य, प्रमाद के वशवर्ती होकर वह जीवन बिता रहा है तो समझिये कि वह अज्ञानी मनुष्य सोने के थाल मे मिट्टी भर रहा है, श्रेष्ठ हाथी पर ईंधन ढो रहा है, चिन्तामणि रत्न को काग उडाने के लिये फैंक रहा है और इस प्रकार वरदान को अभिशाप मे बदल रहा है। पर मनुष्य यदि थोडा भी सचेतन हो जाय तो वह इस सकट से बच सकता है।

मनुष्य को क्या अधिकार है कि वह अपने जीवन के वरदान को अभिशाप मे वदले ? उसके चारो ओर प्रकृति और परमात्मा ने अनन्त सौन्दर्य विखेरा है, परम सुख प्रकटाया है, मगल का विधान किया है। आवश्यकता इस वात की है कि वह प्रकृति के नियमो का पालन करते हुए इस सच्चिदानन्दमय स्वरूप को अपने मे प्रतिष्ठित करे, अपने मगल के साथ लोक-मगल का पथ प्रशस्त करे।

इस प्रसग मे एक पौराणिक कथा याद आ रही है। सतयुग मे एक ऊँट को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान था। उसने जाना कि वह पहले तपस्वी था। यह सोचकर इस जन्म मे भी वह तपस्या करने लगा। उसकी तपस्या से ब्रह्मा खुश हुए। उन्होने वर माँगने के लिये कहा—ऊँट ने वर माँगा कि मेरी गर्दन इतनी लम्बी हो जाय कि मैं सौ योजन क्षेत्र की वस्तु खा सकूँ। ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कह दिया। अव वह घर वैठे ही आसपास की वस्तुएँ खाने लगा और आलसी हो गया। भोग वृत्ति ने उसे निष्क्रिय व निकम्मा वना दिया। अव वह गुफा से वाहर न जाकर वही से गर्दन लम्वी कर घास आदि चरने लगा। एक दिन क्षुधातुर सियार और सियारिन गुफा मे घुस आये और उस ऊँट की गर्दन का माँस नोच-नोच कर खाने लगे। ऊँट गर्दन को सिकोडता तव तक काफी माँस खा गये और ऊँट की मृत्यु हो गयी। आलस्य व अविवेक ने इस प्रकार वरदान को अभिशाप मे वदल दिया।

हमे अपने प्रति सजग रहना है और निरन्तर इस वात का प्रयत्न करना है कि आलस्य और अविवेक हमारे पास न फटक पायें। इसके लिए हमे अपने पुरुषार्थ का दीपक निरन्तर सजोये रखना है। उत्साह और सयम के साथ जीवनयापन करते रहना है।



३५ लोकतंत्र : कितना लोक ? कितना तंत्र ?

भारतीय सविधान मे प्रत्येक भारतीय नागरिक को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न कहा गया है। जरा अपनी स्थिति को टटोलें कि हम कितने प्रभुत्व सम्पन्न हैं ? प्रभुसत्ता के दो पक्ष है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तरिक। बाह्य दृष्टि से हम अवश्य प्रभुत्व सम्पन्न है—क्योकि हम पर किसी अन्य देश का हस्तक्षेप नही है। आभ्यन्तरिक प्रभुसत्ता का अर्थ है—धर्म, जाति अथवा वर्ण के आधार पर किसी को प्रमुखता नही दी जायेगी। इसी विचार से धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त निष्पन्न हुआ प्रतीत होता है। अर्थात् राज्य का अपना कोई धर्म नही है। सभी धर्मों के प्रति समान आदर भाव है। धर्म निरपेक्षता की तरह जाति-निरपेक्षता भी आभ्यन्तरिक प्रभुसत्ता का आवश्यक तत्त्व है। पर व्यवहार मे हमारे यहाँ जातिवाद अब भी हावी है। इतिहास का यह कटु सत्य है कि सभी धर्मनायको और धर्म सुधारको ने जाति-पाँति का विरोध किया है—'जाति पाँति पूछे नही कोई, हरि को भजे सो हरि को होई', पर विडम्बना देखिये कि हमारे जीवन-व्यवहार से धर्म तत्त्व तो गायब होता गया और जाति तत्त्व हमे अधिक कसता गया। परिणामस्वरूप धर्म के नैतिक प्रभाव, आत्मानुशासन और तप-त्याग भावना से हम वचित होते गये।

प्रभुसत्ता का गुण व्यक्ति को स्वाधीन और स्वाभिमानी बनाता है। भारतीय सविधान ने प्रत्येक नागरिक को स्वाधीनता प्रदान की है। वह अपना प्रभु अर्थात् स्वामी स्वय है। पर आज व्यवहार मे देखा यह जाता है कि मतदाता स्वामी न होकर सेवक बन गया है और जिन जन प्रतिनिधियो को लोकसेवा करने के लिये सेवक के रूप मे वह निर्वाचित करता है, वे स्वामी बन बैठे हैं। सदियो तक भारतीय जनमानस राजाओ के शासन मे पलता रहा। इस कारण अपने को शासित मानने की उसकी मनोवृत्ति कम न हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति का सघर्ष भी एक प्रकार से सत्ता प्राप्ति करने का सघर्ष रहा। उसके साथ लोकसेवा करने का भाव मुख्य नही बन पाया। यही कारण है कि आज का औसत भारतीय अपने को प्रभुत्व सम्पन्न अनुभव नही कर पाता। इसके विपरीत जो शासन के तत्र मे वस्तुत जनता द्वारा सेवक के रूप मे निर्वाचित होकर गये हैं, वे अपने आपको प्रभु मानने लग गये है। महाकवि तुलसीदास ने ठीक ही लिखा है—

"प्रभुता पाय काहि मद नाहि"।

आज के जन प्रतिनिधि सत्ता के मद मे लोकसेवा को भूल कर अपनी सेवा मे ही लगे हैं। उनका पराक्रम लोक कल्याणकारी कार्यों को गतिशील बनाने मे प्रकट न होकर पाँच साल बाद फिर से निर्वाचित होकर प्रभु बनने की जोड-तोड मे ही लगा रहता है और लोकतन्त्र का सच्चा प्रभु राशन का कार्ड थामे दर-दर भटकता-फिरता है।

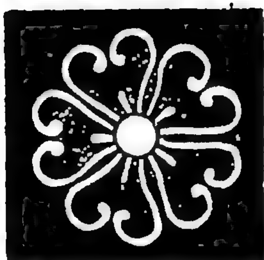
आज हम जिस लोकतत्र मे हैं उसमे तत्र इतना हावी हो गया है कि लोक का तेज हतप्रभ और उसकी शक्ति कुंठित सी प्रतीत होती है। लोकतत्र की मुख्य विशेषता है—जनता का राज्य, जनता द्वारा, जनता के लिये। लोकतत्र व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्राप्त स्वतन्त्रता का उपभोग व्यक्ति दूसरे की स्वतन्त्रता को आदर और स्वीकृति देकर ही कर सकता है। जब तक व्यक्ति की स्वतन्त्रता की व्याप्ति शेष सृष्टि तक नही होती, तब तक वह स्वतन्त्रता वरेण्य नही बनती। जीवन्त नही बनती। व्याप्ति के अभाव मे प्राप्ति समाप्त हो जाती है। आज व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का स्वच्छद उपभोग करना चाहता है, लोक-मगल के लिये उसका उपयोग नही। लोकतन्त्र मे व्यक्ति को अपनी सम्मति व्यक्त करने का अधिकार है। पर वह अपने क्षुद्र स्वार्थों में इतना बध गया है कि उसे सम्मति की नही सम्पत्ति की चाह है। समता की नहीं, सम्पन्नता की ललक है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता के धारण और पोषण के लिये विभिन्न क्षेत्रो मे रचनात्मक सस्थाएँ गठित करने का कार्यक्रम आरम्भ किया था। स्वतन्त्र भारत मे अनेक सामाजिक सस्थाएँ बनी और हैं पर वे भी आज स्वतन्त्रता की धारक न बनकर सम्पत्तिधारक बनने मे होड लेती प्रतीत होती हैं। रामराज्य का आदर्श आज दामराज्य मे सिमटता प्रतीत होता है। काला धन इतना हावी हो गया है कि वह दसो दिशाएँ नापता फिरता है और बेचारे उज्ज्वल चरित्रमना मनुष्य तिजोरी मे कैद हैं। सत्ता, शक्ति और सम्पत्ति मिलकर लोकतन्त्र के प्रहरी कानूनो की भी परवाह नही करते। कानून-पालन प्रतिष्ठा, सच्चरित्रता और सुनागरिकता का मापदण्ड होता है पर आज कानून तोडकर अधिक सुविधाएँ प्राप्त करना प्रतिष्ठा का अग बनता जा रहा है। लगता है—लोकतत्र तत्रलोक मे उलझता जा रहा है। इसीलिये देश-भक्ति के स्थान पर क्षेत्र-भक्ति, स्वायत्तता के स्थान पर सरकारीकरण और अनुशासन के स्थान पर उच्छृखलता बढती जा रही है। लोकतन्त्र की सफलता के लिये सयम और अनुशासन का होना निहायत जरूरी है। आज का व्यक्ति अनु-शासन को आत्मकेन्द्रित न समझकर परकेन्द्रित समझता है। वह दूसरो मे अनुशासन का पालन करवाना चाहता है पर स्वय अनुशासित नही होना चाहता। जब तक

शासन मे अनुशासन का भाव नही आता, तब तक शासन स्व और पर का कल्याणक नही बन पाता। सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतत्रात्मक गणराज्य की सुरक्षा के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि व्यक्ति मे आत्मानुशासन आये और शासन अपनी आज्ञा का बार-बार स्मरण कर उस पर चले और यह आज्ञा है—

> व्यचिष्टे बहुपाय्ये
> यतेमहि स्वराज्ये।

अर्थात् अपने इस सुविस्तीर्ण एव बहुमत रक्षित स्वराज्य के मगल के लिये हम सदैव यत्न-पराक्रम करते रहे।



३६ अन्त्योदय ही नहीं, आत्मोदय भी

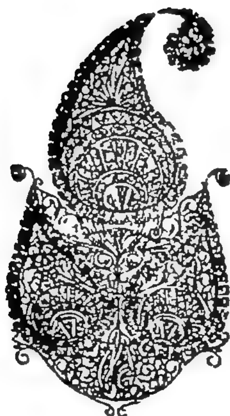
आज सभ्यता का रथ यद्यपि काफी आगे बढ गया है तथापि उसकी दिशा स्पष्ट नही हो पायी है। इसका कारण है अन्तर्ज्योति और विवेक की कमी। यह विवेक और ज्योति अन्तर्वृ त्तियो के विकास से फूटती है। बाह्य जड शक्तियो के विकास और प्रसार ने अन्तर्वृ त्तियो के विकास को कुन्द बना दिया है। आवश्यकता है बहिर्वृ त्तियो के विकास के साथ-साथ अन्तर्वृ त्तियो का समानान्तर विकास हो।

सभ्यता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि आज व्यक्ति कई समुदायो और सस्थानो से सबद्ध हो गया है। राज्य और शासन भी इसी प्रकार का एक समुदाय या सस्थान है जिसका व्यक्ति के विकास मे बहुत बडा हाथ रहता है। विचारणीय बात यह है कि राज्य और शासन की जितनी भी आर्थिक और सामाजिक योजनाएँ हैं, उन सबका लक्ष्य मुख्यत व्यक्ति के बहिर्मु खी विकास से है। इससे व्यक्ति को खाने के लिये अच्छा भोजन मिल सकता है, रहने के लिये अच्छा मकान मिल सकता है, घूमने-फिरने और मनोरजन के लिये अच्छे और आरामदायक साधन उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरे शब्दो मे इससे इन्द्रियाँ तृप्त हो सकती हैं, शरीर की भूख मिट सकती है, पर यह सब कुछ पा लेने पर भी व्यक्ति खोया-खोया सा रहता है, बेचैन और सत्रस्त रहता है, क्योकि उसका मन नही भरता। मन भरा रहे, इसके लिये मनुष्य की अन्तर्वृ त्तियो का विकसित होना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब मन की चेतना को आधार बनाकर उसको सस्कारित करने का अभ्यास किया जाए। ध्यानयोग, सयम, तप, स्वाध्याय, सत्सग आदि इसके सपूरक हैं। पर आज के हमारे पूरे जीवन-क्रम मे इनका स्थान नही के बराबर है। इस ओर प्रवृत्ति आवश्यक है।

यह शुभ कदम है कि आर्थिक दृष्टि से जो सबसे पिछड़ा हुआ है, उसको ऊँचा उठाया जाए, जीवन की आवश्यक वस्तुएँ उसे सुलभ की जाये, सम्मानपूर्वक जिन्दगी वह जी सके, ऐसे अवसर उसे दिये जाएँ, पर यदि अपने आपसे परिचय न कराया गया तो स्थिति मे बहुत बडा परिवर्तन आने वाला नही है। आज हम परिचय का क्षेत्र विस्तृत करने मे लगे हुए हैं पर अपनी आत्मा से परिचय करने का

समय हमे नही है। हम अपने से परे जो अनन्त ज्ञान है, उसे पकडने के लिये रात-दिन लगे हुए हैं पर अपने स्वरूप को समझने मे एक क्षण भी विराम नही लेते हैं। आत्मज्ञान और आत्म-साक्षात्कार ही सच्चे आनन्द का स्रोत है और आत्मोदय ही सच्चा उदय है।

आत्म साक्षात्कार और आत्मोदय के लिये हमारे देश के ऋषि-मुनि सदियो से साधनारत रहे हैं। आज आवश्यकता है इनके अनुभव, साधनाबल और वाणी से लाभ उठाकर राष्ट्रीय स्तर पर आत्मोदय की ऐसी साधनात्मक योजना क्रियान्वित करने की जो अन्त्योदय को पुष्ट ही नही करे, वरन् सर्वात्मवाद की सर्वोदयी भूमिका को भी पूर्ण रूप दे।



३७ सांस्कृतिक समन्वय और भावनात्मक एकता

जितने भी धर्म हैं, उनका मुख्य उद्देश्य जीव और जगत् तथा जीव और ब्रह्म मे ऐक्य भाव स्थापित कर अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम और मैत्री भाव प्रकट करना है। पर ज्यो-ज्यो सभ्यता का विकास होता गया उसमे कई जटिलताएँ आती गईं और धर्म अपने मूल स्वभाव को छोडकर विभावो मे उलझता गया तथा विभिन्न सम्प्रदायो, गच्छो और कठघरो मे बट गया। जब चित्तवृत्ति निर्मल नही रहती, निज रूप मे ज्ञान आत्मसात नही होता और इन्द्रिय जन्य ज्ञान प्रमुख बनकर नानाविध सासारिक कामनाओ, यश, प्रतिष्ठा, प्रभुता, अहकार आदि जागृत करता है तब जीवन और समाज मे भराव के स्थान पर बिखराव, सवेदना के स्थान पर उत्तेजना और अनुराग के स्थान पर आक्रोश जन्म लेता है। आज व्यक्ति की चेतना विभिन्न दबावो के कारण नाना प्रकार के द्वन्द्व और तनावो से ग्रस्त है। जैन समाज भी इसका अपवाद नही।

भगवान् महावीर ने अपने समय मे जब वे कुमार अवस्था मे थे, ऐसा सब देखा। दर्शन के क्षेत्र मे बौद्धिक कोलाहलपूर्ण वातावरण, धार्मिक क्षेत्र मे हिंसा का ताडव नर्तन, सामाजिक क्षेत्र मे वर्ण, जाति का भेदभाव व शोषण का प्राणघातक दुष्चक्र और नारी के प्रति घोर अवमानना। उनका हृदय पसीज उठा। सासारिक वैभव विलास उन्हे ऐसा लगा जैसे सब ओर साबुन का झाग ही झाग है और चित्त को निर्मल बनाने वाला नीर कही दिखाई नही देता। उसी की खोज मे, सत्य के साक्षात्कार मे वे श्रमण बने और कठोर साधना कर शुद्ध, बुद्ध और मुक्त बने।

भगवान् महावीर ने अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर जो देशना दी उसमे सास्कृतिक समन्वय और भावनात्मक एकता का तत्त्व मुख्य है। दार्शनिक धरातल पर उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रत्येक जीव स्वतत्र है। अपने सुख-दुःख का वह स्वय कर्ता है। किसी की कृपा और कटाक्ष पर वह नही जीता। अपने सद्पुरुषार्थ से चेतना का विकास कर वह ब्रह्म बन सकता है। इस प्रकार जितने जीव हैं उतने ब्रह्म हैं। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उन्होने प्रत्येक जीव की स्वतत्रता और समानता का उद्घोष किया। आज ससार मे मुख्यत 2 प्रकार की शासन-व्यवस्था

हैं। पूंजीवादी देशो मे स्वतत्रता पर सामाजिक स्तर पर अनेक स्तरीय भेदभाव हैं। साम्यवादी देशो मे समानता तो है पर विचार स्वातन्त्र्य पर कई प्रकार के प्रतिबध हैं। महावीर द्वारा प्रतिपादित विचारधारा मे स्वतत्रता और समानता दोनो का उचित समन्वय किया गया है। प्रत्येक जीव ईश्वरत्व प्राप्त करने मे स्वतत्र है और ईश्वरत्व प्राप्त करने के बाद वह अपने निज स्वरूप मे अपने अस्तित्व रूप मे स्थित है और प्रत्येक जीव के ईश्वरत्व मे गुणात्मक समानता है।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को लेकर जो विवाद चला आ रहा था उसमे भी जैन दर्शन द्वारा समन्वय स्थापित किया गया। पच परमेष्ठी नवकार मत्र मे अरिहत सगुण ब्रह्म के और सिद्ध निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक है। अरिहत जीवन मुक्त पुरुष हैं। जिनके चार घनघाती कर्म नष्ट हो गये हैं और अनन्त ज्ञान, दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त बल का चरम विकास हो गया है। नाम, गोत्र, आयु आदि इस विकास मे बाधक नही हैं। सिद्ध विदेह हैं जो आयु क्षीण होने पर नाम, गोत्रादि शरीर से मुक्त हो जाते हैं।

ईश्वरत्व प्राप्त करने के साधना मार्ग मे ज्ञान, भक्ति और कर्म को लेकर जो विवाद था उसे भी जैन दर्शन ने दूर किया। एकान्त ज्ञान, भक्ति और कर्म के स्थान पर उसने तीनो की युगपत साधना पर बल दिया और कहा कि—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग'।

विविध दार्शनिक गुत्थियो को सुलझाने के लिए भगवान महावीर ने बौद्धिक अनाग्रह पर जोर दिया और बताया कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। एक समय मे उसके किसी एक ही गुण या धर्म को देखा जा सकता है और उसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। अत जिस वस्तु को तुम जिस दृष्टि से देख रहे हो वह वैसी ही नही है दूसरे लोग उसे जिस दृष्टि से देख रहे हैं उसमे भी सत्य का अश है। अत अपनी बात पर अडो मत। दूसरो के दृष्टिकोण को भी समझो। उस पर भी विचार करो। इससे चित्त की अहकार, आसक्ति व राग-द्वेष की वृत्ति कम होगी और समग्र सत्य को समझने का अवसर मिलेगा। यह अनेकान्त दृष्टि सास्कृतिक समन्वय का मूल आधार है।

भगवान् महावीर ने सामाजिक धरातल पर वर्ण एव जाति व्यवस्था का प्रबल विरोध किया। नारी जाति के प्रति अत्यन्त आदर का भाव व्यक्त किया। उन्होने कहा—जन्म से कोई बडा नहीं होता। व्यक्ति के सत्कर्म ही उसे महान् बनाते हैं। इसी भावना से उन्होने अपने सघ मे चाण्डाल, माली, कुम्हार, दास-

दासियाँ आदि सवको सम्मिलित ही नही किया, दीक्षित भी किया और वे उच्च साधना कर मुक्त हुए।

धार्मिक धरातल पर महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय कर गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म दोनो की व्यवस्था की और इस बात पर वल दिया कि चेतना के चरम विकास मे धर्म, जाति, लिंग या सम्प्रदाय का कोई महत्त्व नही है। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी सम्प्रदाय, जाति, धर्म और लिंग का क्यो न हो यदि उसमे राग-द्वेष को नष्ट करने की शक्ति है तो वह परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। महावीर ने १५ प्रकार के सिद्ध पुरुष वताये हैं जिनमे गृहस्थ, स्त्री योनि प्राप्त, महावीर से भिन्न धर्म मे दीक्षित लोग भी शामिल हैं।

साहित्य के धरातल पर जैन साहित्यकारो ने अत्यन्त उदारता और समन्वयवादिता का परिचय दिया है। ६३ शलाका पुरुषो मे तीर्थंकरो के अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे लोकप्रिय चरित्र नायको को सम्मान पूर्ण स्थान दिया है। यही नही जो पात्र अन्य परम्पराओ मे घृणित और वीभत्स दृष्टि से चित्रित किये गये हैं उन्हें भी चारित्रिक विशेषताओ के कारण उचित स्थान दिया है। नाग, यक्ष आदि तीर्थंकरो के रक्षक माने जाकर समादृत हैं। कथा प्रवधो मे विभिन्न छन्द और राग-रागिनियाँ तथा उनकी तर्जे वैष्णव साहित्य के सामजस्य को सूचित करती हैं। विभिन्न जनपदीय भाषाओ को अपनाकर भाषागत उदारता का परिचय दिया है। साहित्य के सरक्षण मे जैनेतर ग्रथो को समान आदर और महत्त्व दिया है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि मे जव हम आज जैन धर्म और समाज को विभिन्न गच्छ और सम्प्रदाय मे वँटा हुआ देखते हैं तो वडा दु ख होता है। कहा तो भगवान् महावीर की दृष्टि विभिन्न मानव धर्मों मे और विचारधाराओ मे समन्वय स्थापित करने की थी और कहाँ आज उन्ही के अनुयायी, उन्ही के विचारो को, वाह्य आचार-भेद और क्रियाओ को लेकर अलग-अलग फिरको मे वँट से गये हैं। ऐसा लगता है जैसे हमने महावीर के धर्म और विचार की मूल आत्मा को नही समझा है। जैसे कोई किसान खेत मे वोई फसल को न समझे, न जाने, उससे वेभान रहे और उसकी रक्षा के लिए खेत के चारो ओर वाड वनादे, खेत मे अकुरित फसल की सार सभाल न करे और केवल वाड़ की रक्षा-सुरक्षा मे दिन-रात लगा रहे, उसके लिए सव कुछ करने को तैयार रहे तो आप उस किसान को क्या कहेगे ? क्या आज हमारे तथाकथित धर्माचार्यों, मुनियो, सघपतियो, श्रावको और अनुयायियो की स्थिति उस किसान की तरह नही है ? सम्प्रदाय जो वाड रूप हैं, उनकी रक्षा-सुरक्षा करने मे तो हम जागरूक हैं पर जिस फसल की रक्षा के लिए वाड वनायी गई है उस फसल मे वेखवर हैं। इस मूर्च्छा भाव ने हमे अलग-अलग वाट रखा है और महावीर की

विचारधारा मे जो क्राति तत्त्व निहित है उसे मद और हतप्रभ कर दिया है। जैन धर्म और दर्शन रूढियो के खिलाफ सघर्ष करने की प्रेरणा देता है। परिग्रह और सचय वृत्ति का विरोध करता है। क्षेत्रीयता और सकीर्णता की खिलाफत करता है। पर क्या आज हम सब इन्ही के शिकार नही बने हुए हैं ? अपरिग्रही साधु-सतो का उपासक जैन समाज क्या सर्वाधिक परिग्रही नही है ? गृहस्थ वर्ग तो क्या साधु वर्ग ने भी बाह्य परिग्रह का ससार छोडकर आन्तरिक परिग्रह का ससार कही और अधिक विस्तृत तो नही कर लिया है ? यह चिन्तन का विषय है।

सवत्सरी विश्व मैत्री का महान् पर्व आज एक दिन न मनाकर अलग-अलग दिनो मनाया जाता है उस समाज द्वारा जो राग-द्वेष को कम करने के लिए प्राणि-मात्र से क्षमा याचना करता है। क्या यह अपने आप मे चिन्तनीय नही है ? लगता है हम बाह्य प्रदर्शन और दिखावे की परिधि का विस्तार कर धर्म के केन्द्रीय तत्त्व को विस्मृत करते जा रहे हैं। वृहद एकता की दृष्टि से क्या ही अच्छा हो पर्युषण जैसे आध्यात्मिक पर्व की साधना के लिए सवत्सरी को एक केन्द्रीय दिन मानकर अहिंसा या मैत्री दिवस के रूप मे इसकी प्रतिष्ठा की जाय। इससे समग्र जैन समाज तो लाभान्वित होगा ही विश्व स्तर पर सावत्सरिक क्षमापना पर्व की मूल भावना को प्रतिष्ठापित करने मे भी मदद मिलेगी।



३८ सादगी जीवन-प्रणाली व जीवन-दर्शन में उतरे

सभ्यता के तकनीकी विकास और भौतिक पदार्थों की बढती आवश्यकता ने हमारी जीवन-प्रणाली को ही जटिल नही बनाया वरन् जीवन-दर्शन और चिन्तन-प्रक्रिया को भी जटिल और बोझिल बना दिया है। "सादा जीवन और उच्च विचार" अधिकाशत आकर्पक नारा बनकर रह गया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम सादगी के मनोविज्ञान और उसमे निहित मर्म को समझें। सादगी न पिछडापन है और न दरिद्रता की प्रतीक। वह सात्विक भावनाओं व उदात्त आदर्शो की प्रयोगभूमि और आचार-प्रणाली है।

सादगी की यह भावना परिणामों की सरलता और समाज से कम से कम लेने की वृत्ति पर निर्भर रहती है। भारतीय परम्परा के ऋषि-महर्षि और सत-महात्मा इस आदर्श के प्रतीक हैं। वे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को भी सीमित करते चलते हैं और एक ऐसी स्थिति मे पहुँच जाते है जहाँ वे अकिंचन बन जाते हैं। उनकी न वस्तु के प्रति ममता रहती है, न व्यक्ति के प्रनि। निर्ममत्व की यह भावना उन्हे देह-आसक्ति से ऊपर उठा देती है।

सादगी की विपरीत वृत्ति है विलासिता आडम्बर और तडक-भडक। जब व्यक्ति भीतर से टूटने लगता है और उसकी आन्तरिक शक्तिया बिखरने लगती हैं, तब उसका ध्यान बाहरी बनाव-शृ गार पर अधिक केन्द्रित होता है। धीरे-धीरे तथाकथित बडप्पन की यह वृत्ति उसे शरीर के बाहरी सगठनो को सजाने और सवारने की ओर अग्रसर करती है। फलस्वरुव अपने अह-पोपण और थोथी प्रतिष्ठा के लिये वह येन-केन प्रकारेण धन सग्रह करता है और इस प्रकार उसके क्रिया-व्यापार मे शोपण की प्रवृत्ति उभरने लगती है।

सादगी अहिंसा और प्रेम है जबकि विलासिता हिंसा और पाप है। जीवन मे जितनी सादगी आती जायेगी, व्यक्ति महारम्भ से बचता जायेगा, उसमे स्वावलम्बन और स्वदेशीपन तथा सवेदनशीलता के भाव जागृत होगे। महात्मा गाधी ने इसी परिप्रेक्ष्य मे विदेशी बारीक वस्त्रो के स्थान पर स्वदेशी खादी का व्यवहार और प्रचार किया था। गाधीजी ने जब देखा कि भारत की अधिकाश जनता के पास

अपना शरीर ढकने को भी पूरे वस्त्र नही हैं तो उन्होने सोचा कि मुझे पूरे वस्त्र पहनने का और आवश्यकता से अधिक वस्त्र रखने का क्या अधिकार है ? इस चिन्तन के साथ ही उन्होने ऊची धोती पहनना और चादर लपेटना आरम्भ कर दिया।

सादगी और स्वावलम्बन का यह भाव हमारे सभी महापुरुषो की जीवन-प्रणाली और जीवन-दर्शन मे अभिव्यक्त हुआ है। श्री कृष्ण की वेष-भूषा क्या थी ? गाँव मे बना और वही के रग मे रगा पीताम्बर। और वे खाते-पीते क्या थे ? दूध-दही, मक्खन। मुकुट के नाम पर मोर मुकुट और वाद्य यत्र के नाम पर वास की वासुरी। इस प्रकार की सादगी से जहा वैयक्तिक जीवन पवित्र बनता है वहा सामाजिक जीवन शोषण से बचता है। आज फैशनपरस्ती के नाम पर करोडो रुपये भारत से बाहर जाते है। यह बडे खेद की बात है।

सादगी वैयक्तिक और सामाजिक दोनो स्तरो पर जीवन-प्रणाली व जीवन-दर्शन मे उतरनी चाहिये। वैयक्तिक स्तर पर हमारा जीवन विलासिता और वासना से मुक्त हो, हमारा पहनावा, खान-पान, रहन-सहन, सरल व सात्विक हो और हमारे सामाजिक रस्म-रिवाज इस ढग के हो कि उनमे बाहरी प्रदर्शन और होड-प्रतिस्पर्धा न हो और थोथी प्रतिष्ठा के लिये अनाप-शनाप खर्चा न हो। औद्योगीकरण की प्रक्रिया से जो विशेष लाभाश मिलता है, उसका उपयोग लोक-कल्याणकारी कार्यों और जनोपयोगी सस्थाओ मे हो।

आज भी हमारे देश मे उच्च वर्ग के लोगो मे ही नही बल्कि देश के सर्वोच्च प्रशासनिक अधिकारियो मे भी ब्रिटिशकालीन शान-शौकत और सामन्तवादी मनोवृत्ति घर किये हुए है। रहने के लिए आलीशान बगले, रस्मी समारोह के नाम पर बढा-चढा खर्चा और वैभवपूर्ण आयोजन इस तथ्य के प्रतीक हैं। हमे इस धारणा को मिटाना होगा कि जो जितना ऊचा उसके लिये उतना ही विशाल भवन और आयोजनो का असीमित खर्चा।

हमे अपने देश के अनुरूप जीवन-प्रणाली और जीवन-दर्शन विकसित करना होगा। जब तक ऊंचे तबके के लोग और देश के सर्वोच्च पदाधिकारी इस ओर कदम नही उठाते तब तक सादगी का दर्शन जनसमाज को प्रेरित और प्रभावित नही कर सकता।



३९ सही और निश्चित जीवन-दृष्टि विकसित हो

आज हमारे ज्ञान का विस्तार बहुत हो गया है। जगत के रहस्यो को जानने के बहुमुखी प्रयत्न हर क्षेत्र मे हो रहे हैं। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ मे सम्बद्ध विपुल साहित्य प्रतिदिन प्रकाशित हो रहा है। सप्रेषण के माध्यमो से द्रुतगामी विकास हुआ है। मनुष्य अधिक बौद्धिक और तार्किक बना है। इतना सब कुछ होते हुए भी सृष्टि के विशाल तन्तुजाल मे उसकी दृष्टि अब भी उलझी हुई है। वह अनिश्चय के कोहरे और धु धलके से दिक्भ्रमित और निस्सहाय है। भौतिक ज्ञान की प्राप्ति के साथ-साथ उसके हृदय का तार अधिक कसता जा रहा है। उसका मानसिक तनाव उत्तरोत्तर बढता जा रहा है। वह सब कुछ सुख-सुविधायें पाकर भी रिक्त है, खाली है। कोलाहलपूर्ण परिचित चेहरो के बीच भी अपरिचित है। विद्युत के प्रकाश से भरा हुआ अनन्त आलोक-लोक पाकर भी वह दृष्टि-शून्य है।

इस भयावह व विषम स्थिति का कारण है—मनुष्य का केवल अपने अह और स्वार्थ तक सीमित रह जाना, अपने से अतिरिक्त जो शेष सृष्टि है उसकी उपेक्षा, अवहेलना करना तथा उसके प्रति क्रूर और कठोर बन जाना। जब तक अपने से परे जो प्राणीजगत् है, उसके प्रति दया, करुणा, प्रेम आदि की भावना का उद्रेक नहीं होता, तब तक व्यक्ति की कोई जीवनदृष्टि विकसित नही हो पाती। जीवन-दृष्टि मे प्रकाश की किरण तभी फूटती है जब वह केवल अपने लिये नही जीता, सग्रह अपने लिये नही करता, और अपनी जीवनपद्धति व विचार-प्रणाली को इस प्रकार बना लेता है कि उसके द्वारा किसी अन्य को दुख न हो, सताप न हो, परेशानी न हो। ऐसी जीवन-दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति बाहरी ज्ञान का बोझा अपने सिर पर नही ढोता, बल्कि अपने विनय और व्यवहार से उसका अन्तर इतना पारदर्शी बन जाता है कि उसका प्रत्येक क्रिया-व्यापार निर्मल रूप मे सर्वत्र परिलक्षित होता है।

जब व्यक्ति को सही जीवन-दृष्टि मिल जाती है तब वह शरीर से परे आत्मा की खोज करने लगता है। उसे परिग्रह मे विग्रह नजर आने लगता है। देह के प्रति उसकी आसक्ति छूटने लगती है और वह अपने को दूसरो के लिये समर्पित करने के लिये, समाज सेवा मे खपने के लिये हर क्षण तैयार रहता है।

आज दुनिया मे जो सघर्ष है वह अधिकाधिक सग्रह करने के कारण ही है। जब मन मे यह भाव पैदा हो जाता है कि इस शरीर रूपी पिंजडे से आत्मा रूपी तोता उड जावेगा तो सबका सब यही रह जाने वाला है। फिर दूसरो के प्रति क्यो इतना राग-द्वेष, छल-प्रपच और विग्रह-कदाग्रह? जब तक जीवन के प्रति कोई दृष्टि, कोई आस्था, कोई दर्शन विकसित नही होता, तब तक व्यक्ति भय, सत्रास और घुटन मे जीता है। तनिक सा सकट आ पडने पर उसका रक्तचाप बढ जाता है, घट जाता है। शरीर मे पसीना छूट जाता है, पैरो की धरती खिसकने लगती है, सास फूल जाती है और अततोगत्वा हृदयाघात से प्राणात हो जाता है। इस तनाव, आघात और पीडा से बचने का एक सरल और सुगम उपाय है अपने पर आस्था और विश्वास रखते हुए, दूसरो के साथ प्रेमपूर्वक भाईचारे का व्यवहार करना। जितनी आवश्यकता हो, उतना समाज से लेना और शेष को जनता-जनार्दन के लिये समर्पित कर देना।

जीवन-दृष्टि के विकास मे इग्लैण्ड के प्रसिद्ध नाटककार जार्ज बर्नार्डशा का यह कथन विशेष प्रेरक और सहायक है "जो समाज से जितना लेते हैं, उतना ही वापस दे देते हैं वे साधारण मनुष्य हैं, जो समाज से जितना लेते हैं, उससे अधिक दे देते है वे उत्तम पुरुष हैं, और जो समाज से कुछ भी न लेकर सब कुछ दे देते हैं, वे महान् त्यागी और ऊँचे पुरुष हैं।"

वस्तुत देने मे जो सुख है वह लेने मे नही। त्यागमय जीवन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन है। आज के बौद्धिकता प्रधान प्रतिस्पर्धा से पूर्ण युग मे सबके प्रति सहयोग और सहानुभूति की प्रवृत्ति का विकास करके ही जीवन के प्रति निश्चित और सही दृष्टि का उन्मेष किया जा सकता है।



४० उपभोग बनाम उपयोग

मनुष्य अकेला जन्म लेता है। जन्म के साथ उसके पूर्व जन्म के संस्कार साथ आते हैं। शारीरिक विकास के साथ-साथ वे संस्कार माता-पिता, परिवार, समाज, धर्म, राजनीति आदि का परिवेश पाकर विकसित होते रहते हैं। संस्कार बीज रूप होते हैं। परिवेशगत खाद, पानी, हवा, प्रकाश आदि पाकर वे अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते हैं। सामान्यतः देखने में आता है कि यदि बीज की नस्ल अच्छी होती है, उर्वरक होती है तो उससे अच्छा फल मिलता है। इसी प्रकार मनुष्य के सर्वांगीण विकास में संस्कारों की भूमिका उसकी विविध प्रवृत्तियों और गतिविधियों को बहुत दूर तक प्रभावित करती है।

मनुष्य के विकास में प्रकृति और समाज का बड़ा योगदान है। सद्संस्कार पाकर मनुष्य प्रकृति और समाज के साथ अपना आत्मीय और अनुरागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है पर यदि संस्कार कुत्सित हैं तो वह प्रकृति और समाज की सुविधाओं का और शक्ति का केवल अपने स्वार्थ के लिए उपभोग करने का भाव विकसित करता है जिससे उसकी दृष्टि भोगमूलक बनती है और यदि उसमें अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम, दया, मैत्री और सहयोग का भाव जागृत होता है तो वह अपने संकुचित स्वार्थों से ऊपर उठकर प्रकृति और समाज की सम्पदा का उपयोग दूसरों के लिए करने के लिए, उसमें सहयोगी बनने के लिए, प्रवृत्त होता है। तब उसमें उपयोगमूलक परमार्थ दृष्टि विकसित होती है। प्रकारान्तर से प्रथम प्रकार की दृष्टि में परिग्रह की भावना और दूसरे प्रकार की दृष्टि में अपरिग्रह की भावना अनुस्यूत रहती है।

परिग्रह के मूल में ममता या मूर्च्छा भाव निहित रहता है, जो भोगेच्छा का परिणाम है। भोग का मुख्य साधन मन और इन्द्रियाँ हैं। यदि मन की वृत्ति भोगोन्मुखी होती है तो इन्द्रियाँ बेलगाम घोड़ों की भाँति विषयों की ओर दौड़ने लगती हैं। आज हम जिस संस्कृति में जी रहे हैं, उसमें भोगवृत्ति की प्रधानता है। प्रकारान्तर से हम आज की संस्कृति को उपभोक्ता संस्कृति कह सकते हैं। इस संस्कृति में वास्तविक अभाव को दूर करने के लिए उत्पादन क्षमता बढ़ाने के साथ-साथ कृत्रिम अभाव पैदा कर, उपभोग की भूख बढ़ाकर आवश्यकताओं का विस्तार किया जाता है। इस प्रकार पूर्ति की अपेक्षा माँग बढ़ाकर अतिरिक्त लालसा का

क्षेत्र विस्तृत किया जाता है। व्यक्ति इस दुष्चक्र मे सुख समझने लगता है और उसके लिए येन-केन प्रकारेण साधन जुटाने के लिए बेचैन और व्यग्र रहता है। आवश्यकताओ को इच्छा समझकर वह उनकी पूर्ति मे अपनी चेतना और विवेक को निम्न स्तर पर उतार लाता है और ऐसी मानसिकता मे जीने लगता है जहाँ दूसरो से अधिक-से-अधिक प्राप्ति का भाव निरन्तर बना रहता है। यही नही जो अप्राप्त है उसे भी प्राप्त करने के लिए वह सदा चिन्तित रहता है।

कामना पूर्ति और भोग लिप्सा का दबाव मनुष्य की सवेदना को कुण्ठित कर देता है। अपने इर्द-गिर्द जो प्रकृति और समाज है, उसके प्रति लगाव के बजाय बिखराव और दोहन के बजाय शोषण की वृत्ति पनपने लगती है। प्रकृति की थल, जल और वायु सम्बन्धी जो सतुलित सम्पदा है उसे असतुलित बनाकर वह अपने लिए अधिक भोग सामग्री जुटाना चाहता है। परिणामस्वरूप प्रदूषण के रूप मे भयकर समस्या आज हमारे सामने आने लगी है।

भोग की लिप्सा व्यक्ति को जड और मूर्च्छित बना देती है। उसकी शक्ति का क्षरण होने लगता है और वह धीरे-धीरे अपनी प्राण चेतना खो बैठता है। सयम की शक्ति का क्षरण होने के कारण वह निम्न स्तरीय भोग भूमि का ससार जो अन्तत दुःख रूप है, अपने चारो ओर विकसित कर लेता है। यही ससार नरक है जिसके शास्त्रो मे सात प्रकार बताये गये हैं। हमारी दृष्टि से पहले स्तर रत्नप्रभा मे भोग का सुख रत्न की चमक की तरह आकर्षित करता है। सुखप्रियता के भ्रम मे प्राणी डूबा रहता है। दूसरे स्तर शर्करा प्रभा मे शक्कर की मिठास की तरह भोग का सुख मधुर लगता है। तीसरे स्तर बालुकाप्रभा मे रस रहता ही नही। भोग का सुख रेत की तरह नीरसता मे बदल जाता है। चौथे स्तर पकप्रभा मे प्राणी विषय सुख के दलदल मे फसकर द्वन्द्व की स्थिति मे जीने लगता है। भोग सुख की दासता मे आबद्ध प्राणी दुःखी होते हुए भी उसे छोड नही पाता। पाँचवें स्तर धूमप्रभा मे उसकी दृष्टि धूमिल हो जाती है और जीवन मे धुआ की तरह निराशा छा जाती है। छठे स्तर तमप्रभा मे प्राणी किंकर्तव्य विमूढ बन जाता है। उसे चारो ओर अधकार ही अधकार दिखाई पडता है। सातवें स्तर महातमप्रभा मे वह हीन भावना से ग्रस्त होकर निबिडतम मे डूब जाता है, दुःख के गर्त मे फस जाता है। ये सातो अनुभव भोगवृत्ति की पूर्ति के लिये किये गये आरम्भ-परिग्रह की प्रवृत्तियो और उनके दुःखद परिणामो के क्रमिक स्तर को द्योतित करते हैं।

इस नारकीय दुःख से तभी मुक्त हुआ जा सकता है जब उपयोग दृष्टि का विकास होता है। उपयोग दृष्टि मे विवेक का, कृतज्ञता का भाव होता है। उसमे इच्छाओ की नही आवश्यकताओ की पूर्ति का लक्ष्य रहता है, सयम और शक्ति का समुचित सतुलन रहता है। अपने से परे जो शेष सृष्टि है, उसके प्रति प्रेम, सौहार्द और आत्मीयता की भावना रहती है। इस कारण मानसिक वृत्तियाँ बिखरती नही

जुडती है। उनमें विखराव नही भराव होता है, ममत्व नही समत्व होता है। इसी उपयोग को जीव का लक्षण कहा गया है।

आज हम जिस विश्व व्यापक सकट से गुजर रहे हैं उसके मूल मे उपभोग और उपयोग मूलक दृष्टि का द्वन्द्व है और उत्तरोत्तर यह द्वन्द्व अधिक वढता जा रहा है। इस द्वन्द्व को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि भोग लिप्सा को नियन्त्रित किया जाए, आवश्यकताओ को कम किया जाय और उपभोग-परिभोग के जो पदार्थ हैं उनका नियमन किया जाय। स्वैच्छिक राशनिग पद्धति से—आत्म-सयम मे हम न केवल अपनी अत प्रकृति को सतुलित करते हैं वरन् वाह्य पर्यावरण को भी शुद्ध वनाते हैं। सत कवीर ने भोगोन्मुखी मन को नियत्रित करने के लिए सयम रूप अकुश की जो वात कही है, वह वडी सटीक है—

"मैमता मन मारि के, घर ही माहे घेरि।
जव ही चाले पीठि दे, अकुश देदे फेरि॥"

शब्द-निरुक्ति की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि उपभोग मे 'उप' और 'भोग' दो शब्द हैं। भोग शब्द 'भुज्' धातु से वना है जिसके मुख्य दो अर्थ हैं। एक खाना, पीना, आस्वाद लेना, शारीरिक भूख मिटाना और दूसरा अर्थ है, पालन करना, रक्षा करना। उप' का अर्थ है, समीपता या निकटता, चेष्टा और प्रयत्न। इस प्रकार उपभोग का एक अर्थ हुआ चेष्टापूर्वक पदार्थ के प्रति ममत्व स्थापित कर शारीरिक सुख-पूर्ति के लिए उसका भोग करना और दूसरा अर्थ है पदार्थ के प्रति आत्मीय भाव स्थापित कर उसके पालन या रक्षण के लिए सचेष्ट रहना। यह दूसरा अर्थ आज गौण हो गया है। ज्यो-ज्यो यह दूसरा अर्थ प्रधान वनता जाता है त्यो-त्यो उपभोग मे उपयोग का भाव वढता जाता है। उपयोग मे भी दो शब्द हैं। 'उप' और 'योग'। योग 'युज्' धातु से वना है जिसका अर्थ है मिलना, जुडना, स्थिर होना। उप का अर्थ है योग्यतापूर्वक। इस प्रकार उपयोग का अर्थ हुआ योग्यतापूर्वक मिलना या जुडना अर्थात् अपनी समस्त योग्यताओ को परस्पर जोडने मे सयुक्त करना। इस प्रवृत्ति मे भोग की अपेक्षा त्याग भाव की प्रधानता रहती है। यह त्याग भाव दूसरो के प्रति आत्मीय और समर्पण का भाव विकसित करता है। इससे दृष्टि विशुद्ध वनती है। यह विशुद्ध दृष्टि हस की तरह है जो सार तत्त्व को ग्रहण करती है। उसके विपरीत जो भोग दृष्टि है वह वगुले की तरह है जो विषय रूप जल का आचमन कर, ससार-सागर को दूषित कर देती है—

"वुगली नीर वटालिया, सायर चड्या कलक।
और पखेरू पी गये, हस न वोवे चच॥"

ऐसी उपयोग दृष्टि अहिसा, सयम और तप रूप धर्माराधना से ही सम्भव है। ☐

४१ समय न चूकत चतुर नर

अग्रेजी मे एक कहावत है—Time is money अर्थात् समय ही धन है। वास्तव मे समय जीवन की अमूल्य सम्पत्ति है। गई सम्पत्ति परिश्रम से, विस्मृत ज्ञान अध्ययन से, नष्ट स्वास्थ्य औषधि से एव नष्ट सयम गुरुकृपा से पुन मिल सकता है, लेकिन गया हुआ वक्त कभी नहीं मिल सकता। इसलिये समय को अमूल्य धन कहा है, ऐसा धन जो किसी भी कीमत पर पुन प्राप्त नही किया जा सकता। अत समझदार मनुष्य समय का पूरा-पूरा उपयोग करते हैं—'समय न चूकत चतुर नर।'

'समय बडो बलवान' कहकर समय की अनन्त शक्ति का परिचय दिया गया है। इसका अर्थ यह है कि समय निरन्तर गतिशील है, वह एक क्षण भी नही रुकता, और वर्तमान मे ही जीवित रहता है। जो इसकी वर्तमानता को न पहचानकर मात्र अतीत की गहराइयो मे डूबा रहता है अथवा भविष्य की स्वप्निल छाया मे घिरा रहता है, वह कभी समय की जीवन्तता से साक्षात्कार नही कर पाता। जो क्षण की वर्तमानता को थामे रहता है, वही जीवन का वास्तविक आनन्द ले पाता है। लैटिन मे एक कहावत है कि 'समय के सिर मे केवल आगे की ओर बाल होते है पीछे की ओर वह गजा होता है।' यदि तुम उसके आगे के बालो को पकड लो तो वह तुम्हारे हाथ आ जायगा परन्तु यदि तुम उसे आगे से निकल जाने दोगे तो फिर ससार की ऐसी कोई शक्ति नही जो उसे पकड सके। समय की इस तस्वीर को पहचानकर हमे उसके बालो को, वर्तमान क्षणो को मजबूती से पकडकर, जो काम करना है, उसे तुरन्त कर लेना चाहिये।

आज के काम को कभी कल पर नही छोडना चाहिये क्योकि जो आज है वह निश्चित है और जो कल होगा वह अनिश्चित है। जो शक्ति आज के काम को कल पर डालने मे खर्च होती है क्यो न उसका उपयोग आज का काम आज ही करने मे किया जाय। राजस्थानी कहावत है—'कर्‌या सो काम, भज्या सो राम', किया वही काम और भजा वही राम-भजन। काम और राम-भजन को तुरन्त कर डालना चाहिये। जो काम कर डाला सो हो गया, नही किया सो रह गया। कौन जाने कल आयेगा या नही ? कल शैतान का दूत है। इतिहास के पृष्ठो पर इस कल

की धार पर कितने ही प्रतिभाशालियो का गला कट गया। 'कल' की उपासना छोडकर 'आज' के ही नही 'अभी' के उपासक बनो। सत कबीर मानव को सावधान करते हुए कहते हैं—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।
पल मे परलय होयगी, बहुरि करेगो कब ॥

कल, काल बन गया तो फिर जीवन की कला ही नष्ट हो गई। दीपक बुझने के बाद तेल डालने से क्या लाभ? माल लेकर चोर के चले जाने के बाद सावधान होने से क्या लाभ? जो क्षण वर्तमान है, उसे अक्षर बनाने मे लग जाओ। जो पल अभी है उसे प्रज्ञा का केन्द्र बनालो, पूजा का पुष्प बनालो। कही ऐसा न हो कि कल की प्रतीक्षा करते-करते कल तो नही आये और काल आ जाय। आप और हम तो हैं ही क्या? सोने की लका का अधिपति रावण भी इस काल से न बच सका। कहा जाता है कि जब रावण मृत्युशैय्या पर था तब राम ने लक्ष्मण को रावण से शिक्षा लेने के लिए उसके पास भेजा। लक्ष्मण के प्रार्थना करने पर रावण ने कहा—मैंने कठोर तपस्या कर यह शक्ति प्राप्त करली थी कि मैं सब कुछ प्राप्त कर सकता था। मेरी तीन इच्छायें थी—मैं धरती और स्वर्ग को मिलाने के लिए सीढिया लगा दू, आग मे जलाने की शक्ति का जो तत्त्व है उसे निकाल दू और मृत्यु को नष्ट करदू। यह सब मेरे बाये हाथ का खेल था। पर मैं सोचता रहा—अभी क्या है, कल यह कार्य कर लू गा। यो कल-कल करते कल तो नही आया पर काल आ गया। अत हे! लक्ष्मण, दुनिया को मेरी यही सीख है कि हमे कोई बात कल पर नही छोड़नी चाहिये, तुरन्त उसे कर डालना चाहिये।

'समय' शब्द इस बात का सूचक है कि इसमे समभाव की आय का स्रोत निरन्तर प्रवहमान रहता है पर समय का यह अर्थ तभी सार्थक बनता है जब व्यक्ति इसकी सामयिकता को पहचाने, इसके प्रति निरन्तर जागरुक बना रहे और समय की उर्वरता से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखे। विश्व मे ऐसा कोई व्यक्ति नही जिसके पास एक बार भाग्योदय का अवसर न आता हो। जो इस अवसर का स्वागत नही करता, तब वह अवसर उल्टे पाँव लौट जाता है। समयज्ञ पुरुष हमेशा ऐसे अवसर का लाभ उठाता है। समय की शक्ति और गति को पहचानने की क्षमता केवल मनुष्य मे है, पशु मे नही। मनुष्य वर्तमान को वरदान बनाने के लिए, उसे वरेण्य बनाने के लिए अतीत से प्रेरणा और अनागत से सपने ले सकता है और अपनी जागरूकता तथा विवेकशीलता मे उन्हें तपाकर, पकाकर, साकार कर सकता है पर इसके लिए प्रमाद को छोडना होगा। भगवान् महावीर ने अपने शिष्य गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—'समय गोयम मा पमायए'। हे गौतम! क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

समय को अर्थवान बनाने के लिए कर्तव्यपरायणता, काम के प्रति निष्ठा और नियमबद्धता का होना आवश्यक है। जो व्यक्ति अपने प्रति और अपने परिवेश के प्रति जितना अधिक जागरूक है, सवेदनशील है, वह उतना ही अधिक समय की आय प्राप्त करेगा। इस प्रसग मे एक लोककथा बडी अर्थव्यजक है।

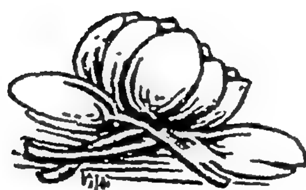
एक सेठ बडा समृद्धिशाली था। भरा-पूरा परिवार था। पर अचानक उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। अब सेठ के सामने समस्या आयी कि वह घर की मालकिन किसे बनाये, किसे तिजोरी की चाबियाँ सौंपे? समस्या के समाधान के लिए उसने अपनी चारो पुत्र-वधुओ की परीक्षा लेनी चाही। पुत्र-वधुओ को पास बुलाकर उसने कहा—मैं चार वर्ष के लिए बाहर जा रहा हूँ। ये पाँच-पाँच चावल के दाने तुमको सौंप रहा हूँ। जब वापस आने पर माग करूँ तब मुझे लौटा देना। यह कहकर सेठ चलता बना।

सबसे बडी बहू ने सोचा—सेठ की बुद्धि सठिया गयी है। पाँच चावल के दानो की क्या कमी? जब सेठजी आयेंगे कोठार से लाकर दे दूँगी और उसने पाँचो दाने फेंक दिये। दूसरी बहू ने सोचा—सेठजी अनुभवी हैं। शायद, ये चावल अभिमत्रित हो। इनसे कुछ लाभ पहुँच सकता है। यह सोचकर वह उन्हे चबा गयी। तीसरी बहू ने सोचा—न जाने इन चावलो के पीछे क्या रहस्य है? इन्हें सम्भालकर रखना चाहिये। पता नही कब ये स्वर्ण या रत्नो मे बदल जाय और उसने सदूक मे उन्हे सुरक्षित रख दिया। चौथी बहू ने सोचा—सेठजी चार वर्ष बाद लौटेंगे, तब तक के लिए क्यो न इनका सवर्द्धन किया जाय? उसने पाँचो दानें अपने मकान से लगी खाली जमीन मे डाल दिये। अनुकूल जलवायु पाकर वे अकुरित हो उठे और समय पाकर वे पक गये और पाँच के पाच सौ हो गये। उसने फिर उन पाँच सौ दानो को बो दिया। अब वे और अधिक हो गये। इस प्रकार वह दानो को बोती रही और वे बढते रहे।

जब चार वर्ष बाद सेठजी लौटे और उन्होने अपने दिये हुए चावल के दाने मागे तो दो बहुओ ने तो कोठार से लाकर और तीसरी बहू ने सुरक्षित रखे हुए वे दानें लाकर दे दिये पर चौथी बहू ने कहा कि वे दाने पाँच नही रहे वरन् फलित होकर कई बोरियो मे भरे हैं। सेठजी उसकी समयज्ञता, जागरूकता और विवेकशीलता पर बडे प्रसन्न हुए तथा उसे घर की मालकिन बनाकर, तिजोरी की चाबियाँ उसे सौंप दी।

सच है, जो समय की इस उर्वरता को पहचान पाता है, वही अपने जीवन को सही माने मे सफल और समृद्ध बना पाता है। समय की धारा के साथ जो तैरता है, वह न केवल अपना मगल करता है बल्कि लोकमगल का क्षेत्र भी

विस्तृत करता जाता है। समय जितना सौंदर्यमय है उतना ही भयकर भी। यह कालवली किसी को भी नही छोडता। शास्त्रो मे इसे 'सर्प' से उपमित किया गया है। सर्प की तरह यह भागता है, फुत्कार करता है पर जो इसकी गति को पकड लेता है, वह इसकी कटुता को कला मे वदल देता है। जो काल की वर्तना मे रमण करता है, वह युग प्रवर्तन करता है, नये मूल्यो का निर्माण करता है और काल के कालकूट को पी जाता है। पर जो इसके साथ सक्रमण नही कर पाता, क्षणमात्र का भी प्रमाद कर वैठता है तव काल उसे पी जाता है। ऐसा समझकर वर्तमान मे वर्तना करने की, पल को प्रज्ञा वनाने की कला सीखने का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये, क्योकि यही क्षण 'तथागत' की भूमिका और भविष्य का जनक है।



४२ आध्यात्मिक सम्पदा की गुणाकार वृद्धि हो

सामान्यत प्रत्येक व्यक्ति को अपने माता-पिता से तीन प्रकार की विरासत मिलती है—शरीर सम्वन्धी, सम्पत्ति सम्वन्धी और सस्कार सम्वन्धी। यह विरासत उत्तरोत्तर वढती हुई, गुणाकार होती हुई भावी पीढी मे अवतरित होती रहे, ऐसा प्रयास आवश्यक है। हमारा सामान्यत यह लक्ष्य रहता है कि आने वाली मतति शरीर से स्वस्थ और रूपवान वने। हम भावी सतति के लिए विपुल परिमाण मे चल-अचल सम्पत्ति छोडकर जाने के लिये, नैतिक-अनैतिक तरीको से भौतिक सम्पत्ति का विस्तार करने मे आजीवन लगे रहते हैं पर विरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो शरीर और सम्पत्ति की तरह भावी सतति मे सद् सस्कारो की गुणाकार वृद्धि होने का विचार और प्रयत्न करते हो।

हम स्वय अपनी ओर देखें। हमे अपने माता-पिता से शारीरिक और भौतिक सम्पदा के साथ-साथ नैतिक सस्कार और सामान्य तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हुई है। हमे कुल-परम्परा से धार्मिक सस्कार और आनुष्ठानिक ज्ञान मिला है। हम वरावर इस प्रयत्न मे तो लगे रहते हैं कि हमे जो भौतिक सम्पदा प्राप्त हुई है, इसको कई गुणा करके अपनी सतानो को दे। इसके लिये न केवल हम दिन-रात सासारिक प्रपचो मे उलझे रहते हैं वरन् अपने वच्चो को भी इस प्रकार शिक्षित करने का प्रयत्न करते है कि वे भौतिक सम्पदा अधिकाधिक प्राप्त करने मे कुशल हो। पर हमारा लक्ष्य इस वात के लिये नही रहता कि हमे जो धार्मिक सस्कार और तत्त्व ज्ञान मिला है, वह कई गुणा होकर वच्चो मे उतरे। फलस्वरूप आज परिवार और समाज मे प्राय यही देखने को मिलता है कि भौतिक सम्पदा की वृद्धि तो निरन्तर होती जा रही है पर आध्यात्मिक सम्पदा से व्यक्ति और परिवार शून्य होते जा रहे हैं। यह अत्यन्त ही शोचनीय स्थिति है।

सामान्यत देखने मे आता है कि पैसे से पैसा वढता है। इसी प्रकार सस्कारो का भी गुणनफल होता है। यदि हम स्वय अपने जीवन मे अथवा वच्चो के जीवन मे अच्छे सस्कार डालेंगे तो सस्कारो के वे वीज उपयुक्त अवसर पाकर वट-वृक्ष का रूप धारण करेंगे। इसके विपरीत यदि कुसस्कारो के वीज वोयेंगे तो वे भी समय पाकर वृक्ष के रूप मे परिणत होंगे।

शास्त्रो मे श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार का उदाहरण आता है। मेघकुमार का जीव पूर्व भव मे हाथी था। वन मे वहुधा आग लगा करती थी। अत उस हाथी ने अपने परिवार को आग से वचाने के लिए वन के एक भाग को साफ-सुथरा कर वाडा सा वना लिया। एक दिन भयकर आग लगी। सव पशु-पक्षियो मे भगदड मची और वे सव उस साफ सुथरे वाडे मे सुरक्षा के लिये पहुँच गये। हाथी भी पहुँचा और थोडी सी जगह देखकर एक तरफ खडा हो गया। सयोगवश हाथी ने अपनी खुजाल मिटाने के लिए अपने पैर को ऊपर उठाया। इतने मे एक भयभीत खरगोश अपनी जान वचाने हेतु अन्यत्र कही जगह न पाकर हाथी के उठे हुए पैर की जगह आकर वैठ गया। खुजलाने के वाद हाथी जव पैर रखने लगा तो देखा कि नीचे खरगोश वैठा है। उसने सोचा यदि पांव नीचे रखा तो खरगोश दव जायेगा और मर जायेगा अत जीव दया के भाव से उसने पाव ऊपर ही उठाये रखा। तीसरे दिन जव आग शात हुई और खरगोश सहित सभी पशु-पक्षी अपने-अपने स्थान पर चले गये तो हाथी ने अपना पैर नीचे रखना चाहा किन्तु अकडने के कारण पैर जम नही पाया और उसकी तीव्र वेदना से हाथी स्वय लुढक गया। इस तरह दूसरे की रक्षा मे स्वय अपने प्राण देने के कारण हाथी का यह जीव श्रेणिक का पुत्र राजकुमार मेघ वना।

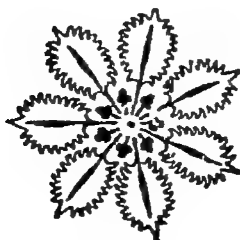
हाथी के भव मे रहा हुआ यह दया का भाव अकुरित होकर विस्तार पाता गया। मेघकुमार जव वडे हुए तो भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर दीक्षित हो गये। रात्रि मे सोते समय उनका नम्वर सव मुनियो के अत मे आया। फलस्वरूप रात को मूत्रादि के लिए आते-जाते मुनियो के पैर की धूल उन पर गिरने से तथा वार-वार आहट आने से सारी रात उन्हे नीद नही आई और उनका मन घर लौटने का हो गया। प्रात होने पर जव वे भगवान् महावीर के पास पहुँचे और उन्हे सारी घटना सुनाई तो भगवान् महावीर ने उन्हे उनके पूर्व भव मे हाथी होने और खरगोश की प्राण रक्षा के लिये स्वय के वलिदान होने की वात कही तो वे पुन सयम मे स्थिर हो गये और आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक कल्याण के पथ पर वढ चले।

उक्त उदाहरण मे हम देखते हैं कि सुसस्कारो का वीज किस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव मे विस्तार पाता गया। पूर्व भव मे जगल के एक प्राणी के प्रति दया का जो भाव था, वह मेघकुमार के भव मे सम्पूर्ण ससार के सभी प्राणियो के प्रति दया और कल्याण के भाव मे वृद्धिगत हो गया। मेघकुमार अपने साधनाशील जीवन मे सयम और अहिसा के भाव को कई गुणा करके वढाते रहे।

सद् सस्कारो की भाँति ही कुसस्कार भी गुणाकार पनपते हैं। क्रोध कषाय को गुणाकार अभिवृद्ध होते हुए हम चण्डकौशिक सर्प के जीवन मे देखते हैं। चण्डकौशिक सर्प अपने जीवन के तीसरे भव मे एक तपस्वी मुनि था। एक वार असावधानी वश एक मेढक मुनि के पैर से दब गया। मुनि के शिष्य ने इस घटना के लिए मुनि से प्रायश्चित करने को कहा पर मुनि ने कोई ध्यान नही दिया। शिष्य के वार-वार कहने पर मुनि क्रोध मे आ गये और उसे मारने दौडे। शिष्य तो अधेरे मे कही गायव हो गया पर मुनि खम्भे से टकरा गये और सिर फूट जाने से उनका प्राणान्त हो गया।

वे मर कर तापस वने। उनका स्वभाव बडा क्रोधी था। एक वार उनके आश्रम से लगे वगीचे मे कुछ वच्चे घुस आये। उन्हे निकालने के लिए वे फरसा लेकर उनके पीछे दौडे। क्रोध के अतिरेक मे वे एक गड्ढे मे गिर पडे और हाथ का फरसा उनके सिर मे लगा जिससे उनका प्राणान्त हो गया। वे मरकर चण्डकौशिक सर्प वने। क्रोध के गुणाकार वढने के फलस्वरूप वह सर्प दृष्टिविष बना। जिसकी ओर देख लेता, वही खत्म हो जाता। सारा जगल भस्म हो गया उसके दृष्टिविप से। इस प्रकार क्रोध का सस्कार पाकर एक मुनि की आत्मा उत्तरोत्तर गिरती गई।

किसी सस्कार, विचार और भाव को कई गुणा वढाने की क्षमता प्राणी मात्र मे है। आवश्यकता इस वात की है कि हम अपनी इस क्षमता का उपयोग सुसस्कार-निर्माण और तत्त्वज्ञान की उपलब्धि मे करें। आज जो कुछ सस्कार और आध्यात्मिक ज्ञान हमे उपलब्ध है उसका प्रमुख कारण यही है कि हमारे पूर्वज इस आध्यात्मिक निधि को अपनी सतानो मे वितरित करते रहे। यदि हम भौतिक सम्पत्ति के पीछे ही पडे रहे और आध्यात्मिक सम्पदा को वढाया नही, अपनी सतानो मे उसका वितरण नही किया तो निश्चित समझिये हम सस्कार-शून्य हो जायेंगे और तब पशुता और मनुष्यता का अन्तर ही मिट जायेगा।



४३ लाभ शुभ हो

मनुष्य असीम शक्ति एव अनन्त पुरुपार्थ का धनी है। इस शक्ति और पुरुपार्थ का वह सदुपयोग भी कर सकता है और दुरुपयोग भी। जब उसकी चेतना ऊर्ध्वमुखी बनती है तब उसमे दैविक गुणो का दिव्य प्रकाश फैलता है। चेतना के अधोमुखी होने पर वह काम-केन्द्रित होकर अन्धकार मे भटकने लगता है और उसकी पाशविक वृत्तियाँ उभर उठती हैं। इस स्थिति मे उसे शरीर-सुख और इन्द्रिय-सुख का ही ध्यान बना रहता है। वह इसकी प्राप्ति के लिए अर्थ-लाभ और अर्थ-सग्रह मे बेभान होकर दिन-रात लगा रहता है। यह एक प्रकार की मोहाविष्ट अवस्था है जिसे तोडना आवश्यक है। इसे तोडकर ही मानवता का विकास किया जा सकता है। हमारे जितने भी पर्व, उत्सव, त्योहार आदि आते हैं वे इसी मोहाविष्ट अवस्था मे हमे जगाने के लिये हैं। दीपावली पर्व अन्धकार के विरुद्ध सघर्ष करने की शक्ति और प्रेरणा देने का तथा प्रकाश को वरण करने के उल्लास का पर्व है।

'मार्कण्डेय पुराण' के अनुसार समस्त सृष्टि की मूलभूत आद्य शक्ति महालक्ष्मी है। वह त्रिगुणमयी है। उसका सात्विक रूप ज्ञान और प्रज्ञा का प्रतीक है, राजसिक रूप श्रीसम्पन्नता, धन प्राप्ति और भरण-पोपण का प्रतीक है तो तामसिक रूपलालसा, तृष्णा, लोभ, प्रमाद आदि का प्रतीक है। दीपावली के दिन मुख्य रूप से महालक्ष्मी के राजसिक रूप की पूजा की जाती है। बही-खातो के प्रारम्भ मे तथा दुकानो व घरो के प्रवेश द्वारो पर लाभ-शुभ और शुभ-लाभ लिखा जाता है।

जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एव सुखपूर्वक रहने के लिये धन की आवश्यकता होती है। इसकी प्राप्ति के लिये व्यक्ति पुरुपार्थ करता है। जीवन का उद्देश्य चार पुरुपार्थों की प्राप्ति माना गया है। वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इस पुरुपार्थ-क्रम मे जीवन का बहुत बडा सत्य छिपा हुआ है। वह यह कि अर्थ, धर्म द्वारा नियन्त्रित हो और कामना मोक्ष के लिये हो। जब अर्थ का अनियन्त्रित अर्जन और उच्छृखलता पूर्ण उपभोग किया जाता है तब अर्थ का लाभ, शुभ नही रहता, नीति और न्यायसम्मत नही रहता। लाभ-शुभ की भावना इस बात के लिए बराबर सचेत करती है कि जो भी लाभ हो वह शुभ हो अर्थात् आजीविका के स्रोत शुद्ध हो और उस लाभ का उपयोग केवल अपने लिए न हो बल्कि दूसरो के लाभ के लिये भी हो।

कोई भी लाभ हित मे तव वदलता है जव उसका उपयोग दूसरो के कल्याण के लिये किया जाता है। जव अपने लाभ को उलट कर हम सव के लिए उसका उपयोग करते हैं, तव 'लाभ' भला वन जाता है। 'लाभ' शब्द को पलटने से 'भला' शब्द बनता है। जो लोग नीति-न्यायपूर्वक आजीविका कमाते हैं, धन प्राप्त करते हैं, उसे ही सम्पत्ति कहा गया है—'सम्यक् प्रतिपत्ति सम्पत्ति।' जो धन अन्याय और अनीति से, गलत तरीको से, रिश्वत, घूसखोरी, वेईमानी, टैक्सचोरी, मिलावट आदि करके प्राप्त किया जाता है वह सम्पत्ति न होकर विपत्ति है। उसे 'लाभ-शुभ' की सज्ञा नही दी जा सकती।

जव शुभ को केन्द्र मे रखकर लाभ कमाया जाता है, तव जिस लक्ष्मी की हम उपासना करते हैं उसके दो स्वरूप हैं। एक कमल-आसिनी लक्ष्मी और दूसरी गरुडवाहिनी लक्ष्मी। कमल-आसिनी लक्ष्मी का उपासक सासारिक भोग-लिप्सा से नितान्त विमुख होकर अपरिग्रही वन जाता है। वह अनासक्त और सासारिक मोह-माया से निर्लिप्त रहता है। उसमे महालक्ष्मी के सात्विक रूप की उपासना का भाव ही मुख्य होता है। वह प्रज्ञापुरुष और महाज्ञानी होता है।

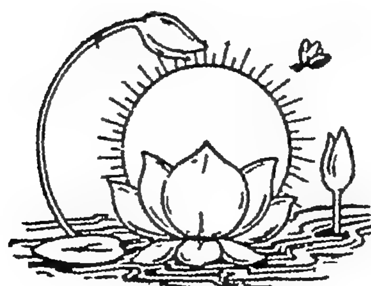
गरुडवाहिनी लक्ष्मी का उपासक जो कुछ लाभ कमाता है, उसके साधन पवित्र और शुभ होते हैं। वह साध्य और साधन दोनो की पवित्रता मे विश्वास करता है। जो कुछ लाभ उसे होता है, उससे वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर, शेष को लोक-कल्याण के लिए समर्पित कर देता है। वह धन का दास नही होता। धन को वह समाज और राष्ट्र की प्रगति, दीन-दुखियो की भलाई और मानव-सेवा के लिये समर्पित कर देता है। गरुड विष्णु का वाहन है जो भरण-पोषण के देवता हैं, लक्ष्मीपति हैं। गरुड गतिशीलता और सेवा का प्रतीक है। वह अन्याय और अत्याचार के सापो को नष्ट करने वाला है। जो धन देश के अभाव, दैन्य और दारिद्रय को निगल कर, देशवासियो को प्रगति पथ पर आरूढ करता है, वह धन है शुभ, वह लाभ है शुभ।

आज पहले की तुलना मे धन का अधिक विस्तार हुआ है पर समाज और राष्ट्र के जीवन मे उसका उपयोग जितना सार्थक वनना चाहिये, वह नही वन पा रहा है क्योकि हमारी दृष्टि लक्ष्मी के सत्व और रजोगुण से हटकर उसके तमोगुण पर अधिक टिक गई है। हमने दीपावली पर्व को ज्ञान और शक्ति की उपासना से हटाकर, उसे जड-धन की पूजा-उपासना के साथ जोड दिया है।

जव ज्ञान की दृष्टि विलुप्त हो जाती है, शक्ति का तेज हतप्रभ हो जाता है, तव जड धन कितना भी रहे, वहां अन्धेरा ही अन्धेरा रहता है। ज्ञान और हित की भावना से रहित धन की उपासना लक्ष्मी के उलूकवाहिनी स्वरूप की उपासना है। जिस प्रकार उल्लू को दिन के, प्रकाश मे नही दिखाई देता, उसी प्रकार जिसका

लाभ शुभ नही है, अशुभ, अन्याय और अनीतिमूलक है, उसे अपार धन होते हुए भी ससार मे कुछ नही दिखाई देता। उसके चारो ओर अन्धेरा ही अन्धेरा छाया रहता है। वह बेचैन, त्रस्त, भयभीत और दु खी बना रहता है। उसका व्यक्तित्व टूटा हुआ और आत्म-शक्ति क्षीण हो जाती है। अन्धकार के विरुद्ध सघर्ष करने की बात तो वह सोच भी नही सकता।

आज हमारे देश मे ऐसे ही लक्ष्मी उपासको की सख्या अधिकाधिक बढती जा रही है, जो चिन्तनीय है। हम प्रतिवर्ष दीपावली मनाते हैं। अनेक दीपक जलाते हैं, बिजली का रग-बिरगा प्रकाश करते है। प्रश्न है, यह सब करके क्या हम अन्धकार को चुनौती दे सके हैं? लगता है कि ज्यो-ज्यो दीपक जलते हैं और जलाये जाते हैं त्यो-त्यो अन्धकार बढता जाता है, गहराता जाता है। राम ने रावण पर विजय प्राप्त की, महावीर ने आत्मविकारो को भस्मीभूत करके निर्वाण प्राप्त किया, इन्द्रभूति गौतम ने आत्मशक्तियो का विकास कर कैवल्य प्राप्त किया, दयानन्द सरस्वती ने परम आत्मा से साक्षात्कार किया। पर प्रतिवर्ष दीपावली मनाकर हम क्या प्राप्त कर पा रहे हैं? हमारे चारो ओर सामाजिक कुरीतियो के अन्धकारपूर्ण अनेक रावण उत्पात मचा रहे है, धर्मस्थानो और धार्मिक व्यवहारो मे लडाई, झगडो और प्रदर्शनो की होड लगी हुई है। हिंसा, द्वेष, असयम और भ्रष्टाचार का अन्धेरा निरन्तर सघन होता जा रहा है। इस अन्धेरे के विरुद्ध हमे लडना है। उसके लिये हम माटी का दीपक अथवा बिजली का बल्ब जलाकर ही न रह जायें। हमे अपने आत्मराम, महावीर, गौतम और दयानन्द को जागृत करना है। ये तभी जागृत हो सकते हैं जब हमारा लाभ शुभ हो और हम लक्ष्मी के उलूकवाहिनी रूप से परे हटकर उसके गरुडवाहिनी और कमलआमिनी रूप की उपासना करे।



४४ कषाय से समाय की ओर

पृथ्वी के गर्भ मे अनन्त सम्पदा भरी पड़ी है। पर उसकी प्राप्ति सहज सुगम नही है, क्योकि उस सचित सम्पदा के ऊपर कई प्रकार के आवरण और लेप हैं। उन्हे हटाकर-खोदकर ही खनिज-सम्पदा प्राप्त की जा सकती है। ठीक उसी प्रकार मनुष्य भी अनन्त शक्ति का धनी है। उसकी आत्म-सम्पदा अखूट और अनन्त है। पर वह भी नाना प्रकार के आवरणो, लेपो से आच्छादित है, अत उस शक्ति की अनुभूति नही हो पाती। इन आवरणो को भेदकर ही उस परमात्म शक्ति से साक्षात्कार किया जा सकता है। आत्म-शक्ति को आवृत्त करने वाली परतें हमारी असत् वृत्तियाँ ही हैं। मानसिक कमजोरियाँ ही हैं। इन्हे ही कषाय कहा गया है।

"कषाय" शब्द 'कष' + 'आय' इन दो शब्दो से मिलकर बना है। 'कष' का अर्थ है कर्म-ससार, कसने का भाव अर्थात् ऐसे कार्य जो व्यक्ति को सासारिक प्रपचो और व्यक्तित्व के टूटने मे उलझाते हैं, वे कषाय हैं। स्व और पर को कसने से, दु खित और पीडित करने से, जिन मानसिक विकारो की वृद्धि होती है, वही कष की अ य है। इस दृष्टि से आत्मा के भीतर कलुष परिणाम कषाय है।

यो तो मानसिक विकारो के नाना प्रकार हैं। पर उसके दो मुख्य भेद हैं—राग और द्वेष। व्यक्ति जब राग का वशवर्ती होता है तब उसमे लोभ और उसे बनाये रखने मे सहायक विभिन्न चित्त वृत्तियो का स्फुरण होता है, यथा माया आदि। जब व्यक्ति द्वेष के वशवर्ती होता है तब उसमे क्रोध, वैर, अहकार, घृणा जैसे मनोविकार जन्म लेते हैं। इसीलिए राग और द्वेष को कर्मबीज कहा गया है। जिस प्रकार अनुकूल भूमि, जलवायु आदि प्राप्त कर बीज अकुरित और पल्लवित होकर फलित होता है और फिर एक के स्थान पर अनेक बीज पैदा करता है। इस प्रकार बीजो की शृ खला बढती जाती है। राग और द्वेष के बीज भी दुष्प्रवृत्तियो का अनन्त विस्तार करते हैं।

"रागो य दोषो वि य कम्मबीय"

— उत्तराध्ययन ३२/७

कषाय के मुख्य चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जब ये नियन्त्रण मे रहते हैं तब आत्म-गुणो का विशेष घात नही करते, पर जब ये नियन्त्रण

से परे हो जाते हैं तव व्यक्ति चौरासी के चक्कर मे निरन्तर भटकता रहता है। इसीलिए कहा गया है—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा, कसाया,
सिंचति मूलाई पुणब्भवस्स ॥

—दशवैकालिक, ८/४०

अर्थात् अनिगृहीत—वश मे नही किये गये क्रोध और मान तथा वढते हुए माया और लोभ आत्मगुणो को कसते हुए, पुनर्भव रूपी वृक्ष की जडो को सीचते रहते है।

जो व्यक्ति कपायो पर नियन्त्रण नही रख पाता और निरन्तर उन्हे वढने, फैलने की छूट देता रहता है, उसका कभी मोक्ष नही होता, उसे कभी परम शाति नही प्राप्त हो सकती ।

विपयो के प्रति आसक्ति की दृष्टि से कपायो की तीव्रता और मन्दता पर विचार किया गया है। इनकी तीव्रतम स्थिति को "अनन्तानुवन्धी" स्थिति कहा गया है। अर्थात् इस स्थिति मे विपयो के प्रति आसक्ति का अनुवन्ध अनन्त काल के लिए रहता है। यह एक प्रकार की मिथ्यात्व या जडता की स्थिति है। तीव्रतम कपाय-दशा मे आत्मा के प्रदेश शरीर से निकलकर अपने शत्रु का घात तक कर आते हैं। इसे कपाय समुद्घात कहा जाता है। ज्यो-ज्यो कपायो की तीव्रता कम होती जाती है त्यो-त्यो आत्मा पर पडे लेप हलके होते जाते है। उदाहरण के लिए क्रोध कपाय की तीव्रता-मन्दता की स्थिति का विश्लेपण करते हुए उसकी चार अवस्थाएँ वताई है—पत्थर पर खीची गई लकीर, पानी सूखने पर तालाव की मिट्टी मे पडी हुई दरार, रेत मे खीची हुई रेखा और पानी मे की गई लकीर। इन अवस्थाओ को क्रमश अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन कहा गया है। प्रथम स्थिति तीव्रतम कपाय की स्थिति है और अन्तिम स्थिति मन्दतम कपाय की। तीव्रतम कपाय की स्थिति मे व्यक्ति को सही वोध नही हो पाता, सम्यक् दृष्टि का विकास नही हो पाता। यह दर्शन मोहनीय की स्थिति है। इस अवस्थान मे चारित्र शक्ति अर्थात् सत् कार्य मे प्रवृत्त होने की भावना भी उद्भूत नही होती। दूसरे शब्दो मे जव कापायिक वृत्ति तीव्रतम होती है तव न सही विचार आ पाता है और न उस ओर प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ जागृत हो पाता है। पर ज्यो-ज्यो विकारो की परते हलकी होती जाती हैं त्यो-त्यो भोग-निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति का पराक्रम वढता जाता है।

कषाय से आत्मा की गति अधोमुखी होती है। उसे ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए सतत साधना और ऊर्जा की आवश्यकता है। कषाय जीव की ऊर्जा को क्षीण करते है। उदाहरण के लिए जब क्रोध आता है, तो न केवल मन विकृत होता है, बल्कि शरीर भी विरूप हो जाता है। आँखें लाल हो जाती हैं, भृकुटी टेढी हो जाती है, नथुने फूलने लगते हैं, स्वर भग हो जाता है। यही स्थिति जब तीव्रतम बनती है, तो व्यक्ति निराश और कुठित होकर आत्महत्या तक कर बैठता है। क्रोधाभिभूत व्यक्ति अपने को नही देख पाता, वह दूसरो को देखता है और विवेक खो बैठता है। दूसरो का नुकसान वह कर पाये या न कर पाये, पर अपना नुकसान अवश्य कर बैठता है। इसीलिए कहा है क्रोध प्रीति का, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ सब गुणो का नाश करता है—

कोहो पीइं पणासेई, माणो विणय नासणो।
माया मित्ताणी नासेई, लोभो सव्वविणासणो॥
—दशवैकालिक ८/३८

कषायो को जीता जा सकता है—क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से और लोभ को सन्तोष से—

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
मामामज्जव भावेण, लोभ सतोसओ जिणे॥
—दशवैकालिक ८/३६

परन्तु कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता है। हमारे विभिन्न धार्मिक अनुष्ठान, तप, त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान, ध्यान, स्वाध्याय आदि के विधान इसी निमित्त हैं। आज कठिनाई यह है कि अधिकाश व्यक्ति इनका उपयोग ऊर्जा प्राप्त करने के लिए न कर केवल रूढिपालन या प्रदर्शन करने व प्रशसा प्राप्त करने के लिए ही अधिक करने लगे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि प्राप्त ऊर्जा का उपयोग इन्द्रियो के विषय-सेवन के क्षेत्रो को बढाने मे न कर आत्म-चेतना को जागृत व उन्नत करने मे किया जाय।



४५ नैतिक मूल्य : वैयक्तिक एवं सामूहिक दायरे में

आज मनुष्य का नैतिक रूप उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक रूपो के परिवृत्त मे ही समझा-परखा जा सकता है। जीवन और समाज की नानाविध परिस्थितियो और क्रिया-कलापो का निर्मल, निष्काम, सर्व कल्याणकारी परिणमन ही नैतिक भावबोध को उजागर करता है। इस दृष्टि से नैतिक रूप को दो स्तरो पर समझा जा सकता है—वैयक्तिक आचार-निष्ठा और सामूहिक कल्याण-भाव। इन दोनो के समपात सन्तुलन मे ही जीवन का श्रेय और प्रेय अर्थवान बनता है पर भौतिक यान्त्रिक प्रगति और भोगवादी वृत्ति से यह सतुलन रह नही पाता और जीवन-व्यक्तित्व अलग-अलग खण्डो मे बिखरने लगता है, टूटने लगता है। फलत शक्ति-केन्द्र कमजोर पड जाता है, और परिधि अशान्ति, सघर्ष और नानाविध आकर्षणो का क्षेत्र बन जाती है।

ऐसी परिस्थिति मे मनुष्य के नैतिक मूल्य और अन्य मूल्यो मे सामजस्य बना रहना कठिन हो जाता है। नैतिक मूल्य मनुष्य की आन्तरिक ऊर्जा और प्रज्ञा के परिणाम होते हैं। जब यह ऊर्जा और प्रज्ञा बाह्य चकाचौंध और सासारिक ज्ञान के आकर्षण मे खो जाती है तब नैतिक मूल्यो का अवमूल्यन हो जाता है। आज हम इस दौर से गुजर रहे हैं।

कोई भी मूल्य चाहे वह नैतिक हो या सामाजिक, निरपेक्ष या स्थिर नही रह सकता। उसमे विकास की प्रक्रिया निरन्तर प्रवृत्तमान रहती है। युग के थपेडो से उसमे तनाव पैदा होता है, जो उसे जड या निष्क्रिय बनने से रोकता है। यह तनाव जब रचनात्मक शक्ति मे परिणत होता है तब मूल्यो का निर्माण होता है। जब यह तनाव विध्वसात्मक या स्वार्थ रूप धारण कर लेता है, तब समानान्तर मूल्य भी नष्ट हो जाते हैं।

आज हमारा जीवन मुख्यत तनाव, सघर्ष और परिग्रह-वृद्धि का जीवन है। इससे जडता और जड बनती है, वह चैतन्य से साक्षात्कार नही कर पाती। चैतन्य का सीधा सम्बन्ध आत्म-केन्द्र से है। जब तक यह सम्बन्ध बना रहता है तब तक मूल्य अर्ध्वोन्मुखी होते रहते है। आज का सबसे बडा संकट यह है कि हमारी दृष्टि केन्द्र पर नही, परिधि पर टिकी हुई है। परिधि का विस्तार एक प्रकार से परिग्रह का

विस्तार है। परिग्रह का यह विस्तार अर्थ तक ही सीमित नही है। उसने विचारो को भी प्रभावित किया है, जिससे हठाग्रह, दुराग्रह, साम्प्रदायिकता और कापायिक भावो मे वृद्धि हुई है। इससे सग्रह की प्रवृत्ति बढी है और उपार्जन के स्रोत अशुद्ध बने है। टैक्स-चोरी, जमाखोरी, तस्कर वृत्ति, वस्तु मे मिलावट आदि इसी के परिणाम हैं।

भगवान महावीर ने नैतिक मूल्यो के रूप मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-मर्यादा के तत्त्व निर्धारित किये थे। और उनकी गुणवत्ता बढाने के लिये दिशा-परिमाण, उपभोग-परिभोग की मर्यादा, शोषणवर्वक आजीविका से बचाव और उपभोग-परिभोग मे जागरूकता तथा विवेक का विधान किया था। इतना ही नही, नैतिक मूल्यो को आचरण योग्य बनाने के लिये सामायिक, देशावकाशिक, पौपधोपवास और अतिथि सविभाग जैसे शिक्षाव्रतो की भूमिका प्रस्तुत की थी। पर कालान्तर मे ऐसा लगा कि मूल अणुव्रतो को गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो की रचनात्मक शक्ति और भूमिका सही रूप से नही मिल सकी। फलत जीवन का द्वैत और चौडा होता गया। स्थूल अहिंसा के नाम पर सूक्ष्म हिंसा बढती गई, अपरिग्रह और अस्तेय के नाम पर सभ्य तरीके से शोषण का चक्र चलता गया और अनेकान्त के नाम पर धर्म विभिन्न कठघरो मे कैद होता गया। इस स्थिति मे सामूहिक नैतिक मूल्यो का ग्राफ तो ऊँचा बढता प्रतीत हुआ पर वैयक्तिक आचारनिष्ठा गुणस्थान के क्रम मे विकसित न हो सकी।

आज तक हम सामान्यत महावीर बुद्ध और गांधी को अपने आत्मकेन्द्र मे प्रतिष्ठित करने के बजाय उन्हे परिधि मे ही प्रतिष्ठापित करने के प्रयत्न करते रहे। इससे वे हमारे बनकर, विद्यालयो मे, पब्लिक पार्को मे, बाजार की वस्तुओ के प्रतीको मे तो प्रतिष्ठित हुए पर यह सब प्रकारान्तर से परिधि का ही विस्तार था। जब तक वे केन्द्र मे प्रतिष्ठित नही होते या हम उनके नही बन पाते, तब तक नैतिक मूल्य हमे छलते ही रहेगे।



४६ चरित्र-निर्माण और समाज-व्यवस्था में व्रतों की प्रतिष्ठा

व्यक्ति समाज की इकाई है। समाज की उन्नति, अवनति व्यक्ति-चारित्र पर निर्भर है। जिस समाज मे व्यक्ति धर्मनिष्ठ, संयमनिष्ठ, अनुशासनवद्ध और सगठित होंगे, वह समाज सर्वतोमुखी प्रगति की ओर अग्रसर होगा। व्यक्ति-चरित्र के निर्माण मे उसके सस्कार और तद्जन्य वृत्तियाँ महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। सस्कारो और वृत्तियो का परिष्करण, धार्मिक अनुष्ठानो और जीवन के प्रति विकसित दृष्टिकोण पर निर्भर है। इस दृष्टि-निर्माण मे व्रत-नियम का वडा महत्त्व है। व्रत-नियम से आचार-विचार नियमित तथा निर्मल वनते है। व्रत-नियम रहित जीवन चचल, अस्थिर और दुविधामय वना रहता है। व्रत जीवन को नियन्त्रित और नियमित वनाते हैं। इनके धारण मे जीवन मे नई चेतना और शक्ति का स्फुरण होता है।

सभी धर्मों मे व्रत-धारण का विशेप महत्त्व है। व्रतो के अगीकार करने से जीवन का उत्थान-क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिये व्रतो को 'द्विजन्मा' कहा गया है। 'द्विजन्मा' शव्द के व्राह्मण, पक्षी, साधु और श्रावक अर्थ होते हैं। वैदिक धर्म के अनुसार जव ब्राह्मण का यज्ञोपवीत सस्कार हो जाता है, तव वह द्विजन्मा कहलाता है। यज्ञोपवीत का द्रव्य रूप से महत्त्व नही है। उसका महत्त्व भाव रूप से है अर्थात् इसका धारक अव ब्रह्म मे विचरण करने वाला हो गया है। उसने सासारिक माया-प्रपच से अपने को अलग कर लिया है। पक्षी भी प्रथम अडे के रूप मे जन्म लेता है और वाद मे पख धारक वच्चे के रूप मे प्रकट होता है। व्रती वनने मे सचमुच जीवन मे नये पख लग जाते हैं। उससे मानसिक दृढता और आत्म-शक्ति का विकास होने लगता है। साधु जव गृहस्थाश्रम से श्रमणधर्म मे प्रवेश करता है तो यह उसका द्विजन्म धारण करना है। यही वात सद्गृहस्थ के लिए है। जव वह व्रती वन जाता है तव उसमे आदर्श नागरिकता और धर्ममूलक आचार-शीलता के दर्शन होने लगते हैं।

व्रत नियम धारण का सम्वन्ध किसी जाति या कुल से नहीं है। इसका सम्वन्ध मानसिक दशा और आचरण-व्यवहार से है। साधु पूर्ण व्रतो को धारण करता है। अत उसके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक मर्यादित या आशिक व्रत

धारण करता है। अत उसके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। श्रावक के बारह व्रत इस प्रकार हैं —मर्यादित अहिंसा, मर्यादित सत्य, मर्यादित अचौर्य, मर्यादित ब्रह्मचर्य, मर्यादित अपरिग्रह ये पाँच अणुव्रत कहे जाते है। दिक् परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत, अनर्थ दड से निवृत्ति, ये तीन गुणव्रत कहे जाते हैं। सामायिक व्रत, देशावकाशिक व्रत, पौषधोपवास व्रत और अतिथि सविभाग व्रत, ये चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं।

प्राचीन समय मे उपर्युक्त व्रतो के धारक आदर्श श्रावको के जीवन प्रसगो के प्रेरणादायी वर्णन मिलते हैं। मरणान्तक कष्ट आने पर भी वे अपने व्रत-नियमो से विचलित नही होते थे। परन्तु आज स्थिति अधिक उत्साहप्रद नहीं है। व्रतो के प्रति न विशेष निष्ठा का भाव दिखाई देता है न उनके परिपालन की दृढता का उत्साह नजर आता है। किसी भी धर्म के मूल सिद्धान्तो को आचरण मे उतारने का मुख्य साधन है—व्रत-ग्रहण। व्रत-ग्रहण और उसके परिपालन की स्थिति को नया जीवन देने की आज अत्यन्त आवश्यकता है। आज हमारे जीवन और समाज मे व्रत के स्थान पर वित्त अधिक प्रतिष्ठित हो गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप हम चिन्मय होने के वजाय मृण्मय बनते जा रहे हैं। हमारे जीवन मे और धर्म मे भी पग-पग पर प्रदर्शन, आडम्बर और यशोलिप्सा तीव्रतर वनती जा रही है। इससे जीवन की शक्ति सूखने लगी है और समाज का ढाचा टूटने लगा है। जीवन को शक्तिसम्पन्न और समाज को सगठित व उन्नत वनाने के लिये जरूरी है कि हम अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार व्रतो को ग्रहण कर कडाई के साथ उनकी परिपालना करें तथा समाज-व्यवस्था मे उनका उपयोग वरतें। □



४७ अध्ययन बनाम स्वाध्याय

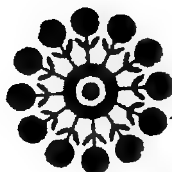
मुद्रण के आविष्कार और ज्ञान-विज्ञान के विकास से आज अध्ययन का क्षेत्र काफी विकसित हो गया है। प्रतिदिन हजारो, लाखो, पुस्तकें छपती और बिकती हैं तथा करोडो व्यक्ति उन्हे पढते हैं। पर एक समय ऐसा भी था, जब छापेखाने के अभाव मे अध्ययन-अध्यापन का मूल आधार कतिपय हस्तलिखित प्रतियाँ और उपदेश व प्रवचन-श्रवण ही था। आज तो शिक्षण सस्थाओ के अलावा पुस्तकालय, पत्र-पत्रिकाएँ, फिल्म, रेडियो, टेलिविजन, टेप-रिकार्डर आदि ज्ञान के कई नये-नये साधन विकसित हो गये हैं।

अध्ययन-कौशल का इतना विकास होने पर भी आज व्यक्ति की ज्ञान-चेतना मौलिकता और सजगता के रूप मे विशेष विकसित नही हो पा रही है। शब्द और विषय का ज्ञान तो बढ रहा है पर अर्थ-ग्रहण और उसकी नानाविध भगिमाओ तक पहुँचने की क्षमता विकसित नही हो पा रही है। बाह्य इन्द्रियो की क्षमता बढ़ने से रग, रूप, शब्द, स्पर्श आदि की पहचान और प्रतीति मे तो विकास हुआ है, विश्व की घटनाओ मे रुचि बढी है, सामान्य ज्ञान का क्षितिज विस्तृत हुआ है और नित्य नवीन तथ्य जानने की जिज्ञासा जगी है, यह सब शुभ लक्षण है पर इसके समानान्तर अपने आत्मचैतन्य को जानने की जिज्ञासा और उसकी शक्ति को प्रकट करने की क्षमता नही बढी है। फलस्वरूप ज्ञान की आराधना आत्मा के लिये हितकारक, विश्व के लिये कल्याणक और वृत्ति-परिष्कारक नही बन पा रही है। ज्ञान के मथन से अमृत के बजाय विष अधिक निकल रहा है और उस विष को पचाने के लिये जिस शिव-शक्ति का उदय होना चाहिये, वह नही हो पा रही है।

सच बात तो यह है कि केवल अध्ययन से ज्ञान के क्षेत्र मे सघर्ष को बल मिलता है और उससे आग ही पैदा होती है। जब तक स्वाध्याय की वृत्ति नही बनती, तब तक ज्ञान का मथन, नवनीत-अमृत नहीं दे पाता। स्वाध्याय का अर्थ है—आत्मा द्वारा आत्मा के लिये अध्ययन, ऐसा अध्ययन जिसमे आत्मा का हित हो, लोक का कल्याण हो। ऐसा स्वाध्याय अन्तर्मुख हुए बिना नही हो सकता। वीतराग महापुरुषो द्वारा कथित सत्शास्त्रो के वाचन, मनन, चिन्तन, भावन और आस्वादन मे जब स्वाध्यायी एकाग्र चित्त होता है, तब उसकी पाँचो इन्द्रियो का

सवर स्वन हो जाता है और वह भीतर की गहराई मे अवगाहन कर निजता से जुडने लगता है, अपने आपको वुनने लगता है। उसकी प्रमाद की अवस्था स्वत मिट जाती है, उसकी चेतना एकाग्र होकर भी जागरूक वनी रहती है। उसका ज्ञान केवल आँख द्वारा वाचना या वुद्धि द्वारा पृच्छना तक सीमित नही रहता, वह परिवर्तना और अनुप्रेक्षा द्वारा स्थिर श्रद्धा और निर्मल भाव के रूप मे परिणत हो जाता है तथा आचरण मे ढलकर अपने मे ऐसे शक्ति कण समाहित कर लेता है कि वह प्राणीमात्र के लिये मगल रूप वन जाता है।

आज के युग की यह वडी दु खान्त घटना है कि ज्ञान-विज्ञान का इतना व्यापक प्रसार और अध्ययन-अध्यापन की इतनी सुविधाएँ प्राप्त होने पर भी व्यक्ति का मन स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त नहीं हो पा रहा है। आज की शिक्षा-पद्धति मे अध्ययन-कौशल ने स्वाध्याय-कला को निर्वासित कर दिया है। फलस्वरूप हमारी प्रवृत्ति परीक्षोन्मुखी वनकर रह गई है। भीतर उतरने की वजाय वह वाहरी साधनो का ही सहारा लेती है। उससे व्यावसायिकता का फलक तो विस्तृत हुआ है, पर आध्यात्मिकता की सवेदना सिकुड गई है। मनोरजन का क्षेत्र तो वढा है, पर आत्मरमण की सभावना समाप्त हो गई है। वृत्तियो को उभरने का तो अवसर मिला है, पर आत्मानुशासन का स्वाद विस्मृत हो गया है। अत आवश्यक है कि हम स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हो ताकि आत्म-हनन और आत्म-दमन के स्थान पर आत्म-विश्वास और आत्मोल्लास वढे।



४८ स्वाध्याय और उसकी प्रक्रिया

आज की वैज्ञानिक प्रगति ने मानव-जीवन को अधिक सुखी, सुरक्षित और सम्पन्न बना दिया है। जीवन-यापन के बाधक कारणों को दूर कर प्रकृति के रहस्यात्मक और प्रतिरोधक तत्त्वों को भी साधक तत्त्वों के रूप मे परिणत कर दिया है। जीवन के अभाव-अभियोग काफी हद तक कम हो गये है। ऐसा दूर से लगता है। ज्ञान का केनवास व्यापक और विस्तृत हो गया है। अन्धविश्वास और रूढिगत परम्पराओ की नीव को विज्ञान के आलोक ने झकझोर दिया है। अज्ञान का अन्धकार सामान्यत भाग खडा हुआ है। प्रकृति और हिंसक पशुओ की भयावनी आकृतियाँ धीरे-धीरे मानव के स्मृति-पटल से ओझल हो रही हैं। भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की जड़ें अधिक गहरी जम रही हैं। ये सब शुभ लक्षण हैं।

लेकिन इन शुभ सकेतो के अन्तराल मे मानवता की जड नष्ट कर देने वाले सूक्ष्म कीटाणु भी छिपे हैं। इस ओर आज के वैज्ञानिक-मस्तिष्क का ध्यान बहुत कम जा रहा है। वह इतना अधिक जटिल, बोझिल और व्यस्त हो गया है कि अपने अन्त स्तल मे उठने वाले स्वरो को वह सुन ही नही पाता पहिचानने की बात तो दूर रही। परिणामत. आज की वैज्ञानिक प्रगति ज्ञान तो दे पाई है पर विवेक नहीं। गति तो दे पाई है पर दिशा नही। यही कारण है कि आज का व्यक्ति अपने आपको चारो ओर से भय और आतक मुक्त पाकर भी सबसे अधिक भयभीत है। आज वह चोर, डाकू से उतना नही डरता, जितना अपने आसपास रात-दिन रहने वाले लोगो से। आज वह जगली पशुओ से इतना आतकित नही होता, जितना तथाकथित सभ्य कहलाने वाले लोगो से। आज एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से और एक जाति को दूसरी जाति से इतना भय नही है जितना एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से है। भय स्थूल से सूक्ष्म हो गया है। ज्यो-ज्यो एकाकी ज्ञान-विज्ञान बढता जायेगा, त्यो-त्यो यह आतक भाव सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जायगा।

इस सास्कृतिक सकट को दूर करने का उपाय वैज्ञानिक-मस्तिष्क के पास नही है। इसे दूर कर सकता है आध्यात्मप्रधान मस्तिष्क, आत्म-चिंतन और मनन। आज की तथाकथित शिक्षा मे इस चिंतन और मनन के लिये कोई स्थान नही।

आज विद्यार्थी इसलिये पढता है कि उसे परीक्षा पास कर जीवन-यापन के साधन रूप अच्छी नौकरी ढूढनी है। अत येन-केन-प्रकारेण वह प्रमाण-पत्र चाहता है। उसके अध्ययन में स्वत स्फूर्त रुचि नही, आन्तरिक ईमानदारी नही, हृदय की पवित्र भावना नही। वह अपने चातुर्य से दूसरो की आँख मे धूल झोक कर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। अपने आचार और विचार मे द्वैत स्थिति कायम कर दूसरो पर प्रभाव जमाना चाहता है। जो इस प्रक्रिया मे जितना अधिक सफल उतरता है, वह उतना ही अधिक पढा-लिखा माना जाता है। जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक यह सकट बना रहेगा।

आज शिक्षा और स्वाध्याय के बीच खाई पड गई है। यही कारण है कि आज का विद्यार्थी ज्ञान तो बढा पाया है पर उसे आत्मसात नही कर सका है। जब तक विचार आत्मसात नही होते, वे आचार मे परिणत नही हो सकते। आज के मानव का दिमाग तो तेज गति से दौड रहा है, पर उसके पाँव एक जगह स्थिर हो गये है। परिणामत वह सिर के बल गिर पडा है। अध्ययन के साथ स्वाध्याय का समुचित सतुलन ही उसे इस स्थिति से उबार सकता है। अध्ययन मे केवल ज्ञान का आकलन या सग्रह होता है, स्वाध्याय से उसका पाचन। अध्ययन मे केवल बहिर्दृष्टि प्रमुख होती है, स्वाध्याय मे अन्तर्दृष्टि। अध्ययन सामान्यत पर पदार्थो का किया जाता है, स्वाध्याय स्वय अपने स्वरूप का। जब तक व्यक्ति सृष्टि के इतर पदार्थों के परिप्रेक्ष्य मे अपने अस्तित्व और दायित्व के विविध आयामो का परीक्षण नही करेगा तब तक वह अपने आप को सतुलित नही रख सकेगा। यह धर्म और विज्ञान का, आत्मा और शरीर का, दृष्टि और सृष्टि का सम्यक् सतुलन ही आज के युग की सबसे बडी आवश्यकता है। इस सतुलन को वही बनाये रख सकता है जिसमे स्वाध्याय की प्रवृत्ति हो।

चीटी की तरह अध्येता को बडी ईमानदारी और लगन के साथ ज्ञानार्जन मे जुटना चाहिये। चीटी की दृष्टि बडी व्यापक और प्रखर होती है। कही भी कोई चीज रखी हो, वह समस्त बाधाओ और सकटो को झेलती हुई अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ विशेष को ग्रहण कर आयेगी। अध्येता की अध्ययन के प्रति ऐसी ही निष्ठा होनी चाहिये। अध्ययन मे उपस्थित समस्त बाधाओ का मुकाबला करता हुआ वह ज्ञान का आकलन करे।

परन्तु ज्ञान के आकलन तक ही उसका कर्तव्य सीमित न हो जाय। ज्ञान का आकलन तो प्रथम सीढी है। ज्ञान ग्रहण करने के बाद यदि उस पर चिन्तन नही किया गया तो वह फलदायक नही होगा। इसलिये अध्येता को दूसरे सोपान मे आकर चिन्तन करना पडेगा। चितक की स्थिति मकडी की तरह होती है। मकडी

अपने ही तानो-बानो मे उलझी-सुलझी रहती है। आज की शिक्षा मे चिन्तन की उपेक्षा है। स्वाध्याय चिन्तन की मूल भीत्ति है।

चिन्तन के बाद की स्थिति है, मनन। आकलन और चिन्तन के बाद अध्येता को मनन करना चाहिये। मनन के द्वारा ही वह संसार के सामने अपना विचारामृत रख सकेगा। इस प्रक्रिया से उद्भूत अमृत मानवता के लिये सजीवनी शक्ति का काम करेगा। मनन की प्रक्रिया ठीक मधु-मक्खी की प्रक्रिया है। मधु-मक्खी विविध रगो के फूलो का रस लाती है, पर अपनी प्रक्रिया से उनमे ऐसा सतुलन और सामजस्य स्थापित करती है कि उन विविध रसो से जो मधु निर्मित होता है वह एक ही प्रकार का, एक ही रग का, बडा सात्विक, मधुर और मीठा। सबको आनन्द देने वाला, प्रफुल्लित करने वाला, स्वस्थ रखने वाला। सच्चे स्वाध्यायी की प्रक्रिया ठीक चीटी, मकडी और मधु-मक्खी की प्रक्रिया है।



४६ शिक्षा और संस्कार

शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को सस्कार-सम्पन्न बनाना है, उसकी सुपुप्त शक्तियो को प्रकट कर, उसकी चेतना का विकास करना है। उसकी चेतना के विकास मे जो बाधक तत्त्व है, उन्हे दूर करने की क्षमता और योग्यता शिक्षा के द्वारा ही अर्जित की जा सकती है। शिक्षा व्यक्ति को सब प्रकार के विकारो और क्षुद्रताओ से मुक्त कर उसे सम्पूर्ण मानव बनाती है। इसी अर्थ मे शिक्षा को मुक्ति का साधन कहा गया है—सा विद्या या विमुक्तये।

शिक्षा के उक्त आदर्श से आज हम भटक गये हैं। हमने आज शिक्षा को जीवन-निर्माण का और चरित्र-गठन का साधन न मान कर जीवन-निर्वाह का और इन्द्रिय-भोग के अधिकाधिक उपकरण जुटाने का साधन मान लिया है। फलस्वरूप शिक्षा का सम्पूर्ण परिवेश, उद्देश्य और पाठ्यक्रम का निर्धारण इस बात को ध्यान मे रखकर किया जाता है कि शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति रोटी-रोजी कमाने मे अधिक सक्षम हो जाये। भौतिक उपलब्धियो को अधिकाधिक प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य रह गया है। दूसरे शब्दो मे आज की शिक्षा जीवन के निर्माण के लिये न होकर जीवन के निर्वाह के लिये ही प्रतिबद्ध है। इससे जगत के रहस्यो और दूसरे पदार्थों को जानने की, परखने की समझ तो बढी है, शरीर को सजाने-सवारने की ललक तो जगी है परन्तु अपने आपको जानने की और आत्मगुणो को विकसित करने की भावना लुप्त हो गई है। इस कारण जीवन और समाज मे अनियन्त्रित असन्तुलन और बिखराव पैदा हो गया है। व्यक्ति बन्धनो से छूटने के बजाय अधिकाधिक मानसिक सक्लेशो और तनावो से आबद्ध हो गया है।

हमे यह स्मरण रखना है कि मनुष्य केवल शरीर नही है। उसके मस्तिष्क और हृदय भी है। मस्तिष्क के विकास की पूरी सुविधायें जुटाकर ही हम शान्त और सुखी नही हो सकते क्योकि सुख वस्तुनिष्ठ नही, आत्मनिष्ठ है। आज की शिक्षा मे आत्म-जागरण के लिये कोई स्थान नही है। इसीलिये व्यक्ति यान्त्रिक अधिक बनता जा रहा है। उसकी हार्दिकता छूटती जा रही है।

आज स्कूलो और कॉलेजो मे छात्रो के प्रवेश की जटिल समस्या है। प्रवेशार्थियो के मानदण्ड आर्थिक या बौद्धिक हैं। शिक्षा का परिणाम भी अको और

संस्थाओं में आंका जाता है। कुल मिलाकर आज की शिक्षा में केन्द्र की मजबूती गायब है। केन्द्र के अभाव में परिधि सुरक्षा का भाव न पैदा कर विश्रृंखलता का भाव ही पैदा करती है। "उत्तराध्ययन" सूत्र में कहा गया है कि जिनमें अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य है, उन्हें शिक्षा प्राप्त नहीं होती

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थम्भा, कोहा, पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ११/३ ॥

शिक्षा उन्हें प्राप्त होती है, जो इन्द्रिय और मन का नियन्त्रण करते हैं, जो रस-लोलुप नहीं होते, जो छल-छद्म नहीं करते, जो असत्य भाषण नहीं करते। विनय को शिक्षा का मूल कहा गया है। जो विद्वान् होते हुए भी अभिमानी है, अजितेन्द्रिय है, बार-बार असम्बद्ध भाषण करता है, उसे अबहुश्रुत और अविनीत कहा गया है। ऐसे शिक्षार्थी को सड़े कानों वाली कुतिया से उपमित किया गया है जिसकी सर्वत्र उपेक्षा होती है, अवमानना होती है—

जहा सुणी पूई-कण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एव दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥ १/४ ॥

सर्वेक्षण से पता चलता है कि आज का तथाकथित विद्यार्थी अधिक अनुशासनहीन, दुर्व्यसनी और अपराधवृत्ति वाला है। इसका मूल कारण शिक्षा का जीवन-निर्माण से, चरित्र-निर्माण से, जुड़ा हुआ न होना है। चरित्र का अर्थ है—अशुभ कर्मों से निवृत्ति और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति तथा जीवन और व्यवहार में सत्य, सादगी, ईमानदारी, परोपकार सहिष्णुता, निर्भयता, त्याग, सयम जैसे गुणों की प्रतिष्ठा होना।

चरित्र-निर्माण का यह कार्य नैतिक शिक्षा के माध्यम से ही सभव हो सकता है। कुछ लोग नैतिक शिक्षा को साम्प्रदायिक शिक्षा समझने की भूल करते हैं। नैतिक शिक्षा सबके प्रति आदर और सम्मान का भाव सिखाती हुई यह बताती है कि हमारा अपने परिवार और समाज के प्रति क्या कर्तव्य है और हमें कैसे व कैसा जीवन जीना चाहिये।

आधुनिक युग में ज्यों-ज्यों विज्ञान और तकनीक का विकास हुआ है, त्यों-त्यों शिक्षा-प्राप्ति के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हुई है और शिक्षितों का प्रतिशत बढ़ा है। यह एक शुभ लक्षण है। परन्तु जिस अनुपात में शिक्षा का विकास हुआ है उस अनुपात में मानवीय सद्गुण विकसित नहीं हुए हैं। इसका मुख्य कारण है—शिक्षा के साथ सुसंस्कारों का विकास न होना, आन्तरिक शक्ति का जागृत न होना। जब तक शिक्षा के साथ इस प्रकार की जागरूकता और विवेकशीलता विकसित नहीं होती

तब तक शिक्षा का फल व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को सम्यक्रूपेण नही मिल सकता।

शिक्षा का ज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। इस ज्ञान की दो दिशायें हैं—एक दिशा है आत्मा या द्रष्टा का ज्ञान और दूसरी दिशा है दृश्य जगत या देह का ज्ञान। प्रथम को हम आत्मज्ञान कह सकते हैं और दूसरे को भौतिकज्ञान। आज की शिक्षा पद्धति मे सारा बल और अभ्यास भौतिक ज्ञान को प्राप्त करने पर ही दिया जाता है। फलस्वरूप शिक्षार्थी का मस्तिष्क तीव्र और पैना हो जाता है, परन्तु मस्तिष्क को सचालित और नियत्रित करने वाली आत्मचेतना या प्रज्ञा का स्फुरण नही हो पाता। फलत शिक्षा द्वारा जो शक्ति और सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है, उसका स्व-पर कल्याण मे उपयोग नही हो पाता। शक्ति और सामर्थ्य के सदुपयोग के लिये प्रज्ञा, प्रकाश और विवेक की आवश्यकता है। यह आवश्यकता अक्षर ज्ञान या पुस्तकीय ज्ञान से पूरी नही हो सकती। उसके लिये सस्कारो का होना आवश्यक है।

शिक्षा स्वय जीवन का कोई ध्येय नही है। वह ध्येयपूर्ति का साधन मात्र है। पुस्तको मे केवल अक्षर और भाषा मिलती है। किन्तु उसका अर्थ सृष्टि मे व्याप्त रहता है। जब शिक्षा के साथ सस्कार अर्थात् दीक्षा का सम्यक् योग होता है तब सृष्टि मे व्याप्त उस अर्थ को समझा और परखा जा सकता है। जिसमे यह समझ और परख विकसित नही होती, वह साक्षर होकर भी राक्षस हो सकता है। इसीलिए शायद अनुभवियो ने कहा है—"अशिक्षित मनुष्यो से समाज की उतनी हानि नही होती जितनी सस्कार-रहित शिक्षितो से हो सकती है।"

'स्थानाग सूत्र' मे ज्ञान-प्राप्ति के साधनो की चर्चा करते हुए कहा गया है कि ज्ञान-साधक विकथाओ से अर्थात् विकृत साहित्य से दूर रहे। उसके व्यवहार मे शालीनता और विनयशीलता हो, त्याग और सयम की भावना हो, सतत अभ्यास और जागरूकता बनी रहे और शुद्ध तथा पवित्र आहार का सेवन हो। आज के युवक-युवतियो मे इन चारो साधनो की कमी परिलक्षित होती है। अधिकाश छात्रो का समय सत्-साहित्य के पठन-पाठन मे न बीत कर आत्मघाती, उत्तेजनापूर्ण, सस्ते साहित्य के अध्ययन मे नष्ट होता है। त्याग और सयम के स्थान पर इनमे फैशन-परस्ती, अह और प्रदर्शन की वृत्ति देखी जाती है। स्वाध्याय के प्रति रुचि न होने से उनका ज्ञान अधूरा, अपरिपक्व और अपाच्य बना रहता है। सम्यक् आहार-विहार के अभाव मे व्यसन-विकारो से ग्रस्त युवक तन और मन से अस्वस्थ देखे जाते है। अत यह नितान्त आवश्यक है कि युवापीढी को शिक्षित करने के साथ सुसंस्कारित भी किया जाय।

५० दीक्षा का स्वरूप और महत्त्व

जो साधक परमात्म बनने की दिशा मे सासारिक माया-मोह और पापकारी प्रवृत्तियो से अलग हटकर, उत्कट वैराग्य भावना धार कर, गुरु चरणो मे समर्पित हो आजीवन सम-भाव मे रमण करने के लिये प्रतिज्ञावद्ध होता है, उस प्रक्रिया का नाम दीक्षा है।

दीक्षा शब्द 'दीक्ष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है किसी धर्म-सस्कार के लिये अपने आपको तैयार करना, आत्म-सयम की ओर बढना। दीक्षा आन्तरिक चेतना के रूपान्तरण का नाम है। यह नये आध्यात्मिक जीवन का प्रवेश-द्वार है। वृत्तियो के पवित्रीकरण और सस्कारशीलता का नाम है दीक्षा।

मनुष्य अनन्त शक्तियो और पुरुषार्थ पराक्रम का धनी है। पर विषय वासना और कषायादि विकृत्तियो के कारण उसकी आत्म-शक्तिया आवृत्त-प्राच्छादित व सुषुप्त बनी रहती हैं। जिस प्रकार अण्डे के आवरण को तोडकर पक्षी नया जीवन धारण करता है उसी प्रकार आत्म-शक्ति को ढकने वाली कर्म-विकृतियो को नष्ट कर साधक परमात्म पद प्राप्त करता है। इस परमात्म पद को प्राप्त करने की साधना का नाम है दीक्षा।

दीक्षा के मोटे रूप से दो स्तर है। एक श्रावक दीक्षा और दूसरी श्रमण दीक्षा। श्रावक दीक्षा सद्गृहस्थ बनने और अपने मे आदर्श नागरिकता के गुणो को आत्मसात करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने का नाम है। श्रावक उसे कहा गया है जो श्रद्धा और विवेक पूर्वक अपनी शक्ति और मर्यादा के अनुसार हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह का त्याग कर आत्म-गुणो को प्राप्त करने की दिशा मे सक्रिय बनता है। गृहस्थ-जीवन का दायित्व होने के कारण वह सासारिकता से पूर्णत: मुक्त नही हो सकता। अत आशिक रूप से व्रत-नियमादि ग्रहण कर वह ससार मे रहते हुए भी अधिकाधिक सयमी जीवन जीता है।

श्रमण दीक्षा श्रावक दीक्षा की अगली सीढी है। प्रचलित अर्थ मे श्रमण दीक्षा को ही दीक्षा कहा जाता है। श्रावक दीक्षा बारह व्रत धारण करने तक सीमित है। जो साधक श्रमण दीक्षा धारण करता है वह गृह और परिग्रह तथा उसके ममत्व से रहित होता है। वह आजीवन हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और

परिग्रह का तीन करण योग से अर्थात् मन, वचन, काया से इन पापकारी प्रवृत्तियो को स्वय न करने, दूसरो से न करवाने और उन्हें करते हुए का अनुमोदन न करने की प्रतिज्ञा धारण करता है। इस प्रतिज्ञा द्वारा वह नये आध्यात्मिक जीवन मे प्रवेश करता है। स्वय पर, स्वय के लिये, स्वय का नियन्त्रण स्थापित करता है। अपने 'स्व' का विस्तार कर वह प्राणीमात्र के साथ मैत्री भाव का सम्बन्ध जोडता है। सभी जीवो को वह अपने ही समान प्रिय समझने लगता है। उनकी समानता व स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये वह अपने को आत्मानुशासित कर स्व-स्वरूप की प्राप्ति के लिये सचेष्ट होता है।

दीक्षा धारक साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की निरतिचार आराधना के लिये साधना के मार्ग मे आने वाली कठिनाइयो और बाधाओ को हँसते-हँसते सहन करता है। वह नगे पाँव पैदल चलता है, शरीर-रक्षण के लिये घर-घर जाकर मधुकरी वृत्ति से निर्दोष आहार ग्रहण करता है, कल के लिये कुछ भी सचित नही रखता। अपने पास पैसा-कौडी, नोट, गहना आदि कुछ भी नहीं रखता, वह इनका स्पर्श तक नही करता। रहने के लिये अपना निजी कोई मकान नही रखता। वर्षावास को छोडकर शेष आठ महीने वह आध्यात्मिक उपदेश देने, सामाजिक कुरीतियो को दूर करने, जीवन को व्यसन मुक्त कर सुसस्कार डालने की भावना से गाव-गाव, नगर-नगर पद-विहार करता है और कही भी एक माह से अधिक नही रुकता।

दीक्षा अगीकार करते समय साधक अपने पुराने वस्त्रो को त्याग कर आध्यात्म जीवन के प्रतीक सादे श्वेत वस्त्र धारण करता है और उनकी मर्यादा करता है। अपने भावी जीवन-व्यवहार को शुद्ध, पवित्र और निर्मल करने के लिये वह प्रतिज्ञाबद्ध होता है, साथ ही अतीत मे उसके द्वारा जो भी दुष्कृत अर्थात् बुरे कार्य हुए हैं, उनके लिये सबसे क्षमा मागता है, उनकी आत्म-साक्षी से निन्दा करता है। गुरु के सामने अर्थात् सार्वजनिक रूप से उन दुष्कर्मों के प्रति गर्हा करता है। इस प्रकार विगत अशुद्ध जीवन और दुष्कृत्यो के प्रति निन्दा, गर्हा करके वह अपने हृदय को पापरहित, भारहीन बनाकर नये जीवन की तैयारी करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दीक्षा तथाकथित आधुनिक शिक्षा की अर्थकारी भोगोन्मुखी प्रवृत्ति से परे आत्मबोध की सहज स्फुरणा है, आत्म-साक्षात्कार करने की विशिष्ट प्रक्रिया है, चेतन का अपनी स्वानुभूति मे स्थित होने की साधना है, मन की ग्रन्थियो को भेद कर निर्ग्रन्थ बनने की प्रतिज्ञा है। इसमे आत्म-सुधार, जीवन-निर्माण, लोक-कल्याण, अहिंसक समाज रचना और विश्वमैत्री का बहुत बडा आदर्श निहित है।

• ☐ •

५१

समता-समाज-रचना में साहित्य की भूमिका

व्यक्तियो के समूह मे समाज बनता है। समाज की अच्छाई या बुराई व्यक्तियो पर ही निर्भर है। व्यक्ति का आचार-विचार, उसका रहन-सहन और जीवन-दर्शन, समाज-संगठन को प्रभावित करता है। अत समाज-रचना मे व्यक्ति की धार्मिक, आर्थिक, नैतिक और कलात्मक प्रवृत्तिया महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं। यहाँ समाज रचना मे साहित्य की भूमिका पर संक्षेप मे विचार किया जा रहा है।

'साहित्य' शब्द से उसके दो मुख्य कार्य ध्वनित होते हैं—सबके प्रति हित की भावना और सबको साथ लेकर तथा सब मे ऐक्य भाव स्थापित करते हुए चलने की भावना। इन दोनो क्रियाओ से समाज के जिस स्वरूप का निर्धारण होता है वह समता समाज के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

साहित्य के निर्माण मे भाव ही मुख्य होते है जो शब्द और अर्थ के माध्यम से अभिव्यक्त होते है। साहित्य-निर्माण की प्रक्रिया उत्तेजना, उथल-पुथल और आन्दोलन की प्रक्रिया न होकर संवेदना, समरसता और सर्जन की प्रक्रिया है। साहित्यकार मानव-मन की गहराई मे पैठकर जो भाव-सम्पदा अर्जित करता है, वह मात्र अपने लिये न होकर सबके लिये होती है। उसकी स्वानुभूति सर्वानुभूति बन जाती है। इस प्रकार "स्व" का "सर्व" मे विलय होने पर जो स्थिति बनती है, उसे समरसता या समता की स्थिति कह सकते हैं। काव्यशास्त्रो के आचार्यों ने इसे रस-दशा कहा है, और इसके आस्वाद को ब्रह्मानन्द सहोदर के तुल्य माना है।

साहित्य की रचना-प्रक्रिया मे साहित्यकार योगी अथवा साधक की भाति ही तटस्थ, निरपेक्ष और सांसारिक वासनाओं मे उपरत हो जाता है। इस मन स्थिति मे जो साहित्य रचा जाता है, उसका आस्वाद न सुखात्मक होता है न दु खात्मक। आचार्यों ने इसे आनन्द की संज्ञा दी है। इस दशा मे परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले भाव तिरोहित हो जाते है। भय, क्रोध, घृणा, ईर्ष्या जैसे दु खात्मक और लोभ, प्रेम, उत्साह जैसे सुखात्मक भाव अपने उत्तेजक रूप को छोड़कर समरसता मे परिणत हो जाते है। विज्ञान की शब्दावली मे यदि कहे तो यह वह स्थिति है जिसमे

ताप 'प्रकाश' मे रूपान्तरित होता है। इस मनोदशा मे शत्रु, शत्रु नही रहता। सारे द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं, और मन की वृत्तिया भीतर के तारो से इस प्रकार जुड जाती हैं कि सारे विभाव और विकार शान्त हो जाते हैं। इस मानसिक एकाग्रता और वृत्ति-सयमन मे सार्वजनीन भाव का ऐसा विकास होता है जिसमे विशेपीकृत व्यक्तित्व साधारण वन जाता है। साधारणीकरण की यह प्रक्रिया समत्व दर्शन की निकटवर्ती प्रक्रिया है।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो की दृष्टि भावो के उदात्तीकरण की इस रसदशा तक नही पहुँची है। यही कारण है कि वहाँ साहित्य मे शान्ति की अपेक्षा सघर्ष को, सुखान्त भाव की अपेक्षा दु खान्त भाव को और नायक के मगल की अपेक्षा उसके सत्रास और मरण को मुख्यता दी गई है। पर भारतीय दृष्टि इससे भिन्न रही है। यहाँ नायक के जीवन मे सघर्ष आता है, कठिनाइयाँ आती हैं, पर वह अपने पुरुपार्थ के वल पर धैर्यपूर्वक उन पर विजय प्राप्त करता हुआ अन्त मे मगल को प्राप्त करता है। वह मरता नही वरन् मृतको को भी जीवन प्रदान करता है। उसकी आस्था, युद्ध, हिंसा और रक्तपात मे न होकर, आत्म-सयम, अहिंसा और करुणा मे है। वह केवल युद्धवीर नही है, वह धर्मवीर, कर्मवीर और दानवीर भी है। धैर्य और साहस का धनी होने के कारण उसे 'धीरोदात्त' कहा गया है।

साहित्य मे सवेदना के स्तर पर समता का जो स्वर उभरता है, वह केवल मनुष्य समुदाय तक सीमित नही रहता। उसकी परिधि मे मनुष्येतर जीवधारी सभी प्राणी और प्रकृति के नाना तत्त्व भी समाहित होते हैं। समष्टि रूप मे लिंग, जाति, वर्ण, धर्म, मत, सम्प्रदाय आदि के भेद समाप्त हो जाते हैं। वहा मर्द केवल मर्द नही रहता और स्त्री केवल स्त्री नही रहती। आत्मीयता का इतना विस्तार हो जाता है और सवद्धपरकता की भाव-भूमि इतनी व्यापक हो जाती है कि उसमे समस्त ब्रह्माण्ड समा जाता है। यहाँ नारी वासना की नही साधना की, भोग की नही, त्याग की और दुर्वलता की नही शक्ति की प्रतीक वनकर आती है। पत्नीत्व के रूप मे वह पश्चिमी साहित्य की भाँति केवल 'वाइफ' के दायरे मे सीमित नही है। रमणी, दारा, भार्या, देवी और प्रियतमा के रूप मे उसे नानाविध सामाजिक और पारिवारिक रिश्ते भी निभाने होते हैं। माँ के रूप मे उसकी वत्सलता समाज को स्नेह-सूत्र मे वाधती है।

साहित्य मे पशु-पक्षियो का चारित्र और व्यवहार इस प्रकार चित्रित होता है कि उनमे उन गुणो को विकसित करने की प्रेरणा मिलती है जिनका होना समता-समाज के लिये आवश्यक होता है। ये गुण हैं—सहकार, सहयोग, प्रेम, मैत्री, कर्तव्यपरायणता, प्रामाणिकता, परिश्रम, आत्मनिर्भरता, स्वतत्रता, अपरिग्रहवृत्ति, आत्म-सयम आदि। कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" के दो प्रसग हमारे इस

कथन के प्रमाण हैं। एक प्रसग उस समय का है जब शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम मे विदा लेती है तो मृगशावक उसका वस्त्र पीछे से अपने मुह मे पकड लेता है। मानव और पशु के परस्पर प्रेम का यह कितना आत्मीयतापूर्ण सात्विक और निश्छल-नि स्वार्थ अनुभव है।

दूसरा प्रसग मृग के सीग पर मृगी की बाई आँख के खुजलाने का है। इस प्रसग के माध्यम मे कालिदास ने मृग के सयम और मृगी के निर्भीक प्रेम भाव को अभिव्यक्त किया है। मृगी का हृदय आश्वस्त है कि उसके प्रिय के सीग से उसकी आँख को किसी प्रकार की हानि नही हो सकती। इस प्रकार के अनेकानेक प्रसग और मार्मिक छविया साहित्य के विशाल फलक पर चित्रित हैं। समता-समाज-रचना मे इन प्रसगो से उद्‌बोधन और प्रेरणा मिल सकती है।

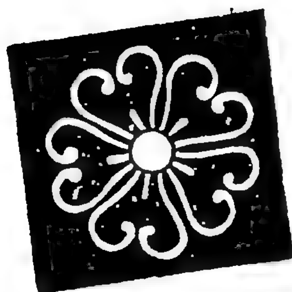
आत्मीय भाव का यह विस्तार पशु-पक्षियो तक ही सीमित नही है। लता तृण, पेड-पौधो तक इसकी व्याप्ति हुई है। धरती को माता और अपने को पुत्र मानकर कवियो ने इस विराट प्रकृति की वन्दना की है। इसी भाव विन्दु से देश प्रेम और विश्व प्रेम की भावना जुडी हुई है। इससे स्पष्ट है कि साहित्य मानव-मानव को ही नही जोडता वरन् प्रकृति के कण-कण को भी परस्पर जोडता है।

समता-समाज-रचना मे सबसे वडी बाधा है—सामाजिक और आर्थिक वैषम्य की भावना। सामाजिक विषमता का मुख्य कारण है—अज्ञान और अध-विश्वास और आर्थिक विषमता का कारण है—उत्पादन के साधनो का असमान वितरण और सग्रहवृत्ति। भारतीय सत-साहित्य मे और आधुनिक युग के प्रगति-वादी-प्रगतिशील साहित्य मे इन विषमताओ पर गहरी चोट की गई है। ऐसे पात्र खडे किये गये है जो समता-समाज के निर्माण के लिए सतत सघर्षरत हैं। भारतीय स्वाधीनता सग्राम और धार्मिक-सामाजिक सुधार आन्दोलन इसकी पीठिका बने हैं।

हमारे जीवन का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम—इन पुरुषार्थो की साधना करते हुए अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करना रहा है। समाज-निर्माण का भी शायद यही लक्ष्य है। इस विन्दु पर आकर समाज और साहित्य दोनो का लक्ष्य एक हो जाता है और दोनो एक दूसरे के सम्पूरक बन जाते है। इस सदर्भ मे साहित्य एक ओर समाज का दर्पण बनकर उसकी सबलताओ और दुर्बलताओ का यथार्थ चित्रण करता है। बुराइयो के प्रति वितृष्णा पैदा करता है और अच्छाइयो के प्रति रुचि जागृत करता है। दूसरी ओर साहित्य समाज के लिये दीपक के रूप मे मार्ग-दर्शक बनता है। इस रूप मे साहित्यकार केवल इस बात से सतुष्ट नही रहता कि "हम कैसे है"—इसका चित्रण भर कर दिया जाय, बल्कि "हमे कैसे होना चाहिए"

इस आदर्श को भी वह रूपायित करना चाहता है। इन दोनो के युगपत चित्रण को "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" की सज्ञा दी गई है। समता-समाज-रचना मे साहित्यकार की यही दृष्टि उपादेय है।

पर दु ख इस बात का है कि आज का साहित्य पश्चिमी प्रभाव के कारण जीवन को पुरुषार्थ-साधन के रूप मे न देख कर समस्याओ के रूप मे देखने लगा है। फलस्वरूप सृजना के स्थान पर अनुकरण और सस्कारशीलता के स्थान पर वृत्तियो को उभारने की व्यावसायिकता पनप रही है। भीतर की शक्तियो को सगठित करने के बजाय आज का तथाकथित सस्ता मनोरजनात्मक साहित्य उन्हे बिखेरने मे लगा है। फलत भराव के स्थान पर बिखराव, आस्था के स्थान पर निराशा, समता के स्थान पर विषमता और शान्ति के स्थान पर सघर्ष घर कर रहा है। साहित्य की इस प्रवृत्ति को रोकना होगा और इसके स्थान पर लोकहितवाही, सस्कारशील, जीवनोत्कर्षकारी साहित्य निर्माण को बढावा देना होगा। यह तो नही कहा जा सकता कि ऐसे सत्साहित्य के निर्माण की गति रुक गई है पर यह अवश्य है कि ऐसा साहित्य आम आदमी तक पहुँच नही पा रहा है। ऐसे साहित्य को बोधगम्य और लोकसुलभ बनाने के हमारे प्रयत्नो मे ही समता-समाज-रचना मे साहित्य की भूमिका की सफलता-असफलता निर्भर है।



५२ मूक प्राणियों की रक्षा

समस्त सृष्टि में एक ही प्राण चेतना व्याप्त है। मनुष्य ही नही, पशु, पक्षी, वनस्पति यहा तक कि पृथ्वी, जल वायु, और तेजस् मे भी जीवन-शक्ति का जो सचार है, वह परस्पर एक दूसरे के लिए समर्पित है। किसी को यह अधिकार नही है कि वह विविध रूपो मे सचरित इस प्राण-चेतना को आघात पहुचाये, इसका हनन करे। पशु-पक्षियो का तो मानव-जीवन के साथ गहरी मैत्री और विश्वास का सम्बन्ध है। आदि कवि वाल्मीकि तो क्रीडारत क्रौंच दम्पती मे से एक को आहत देखकर विह्वल हो उठे थे और उनका शोक ही आदि श्लोक बन गया। महाकवि जायसी का हीरा मन तोता राजा रत्नसेन के लिए गुरु सिद्ध हुआ। हस, भ्रमर, कबूतर, कुरजा आदि सन्देशवाही दूत के रूप मे मानव जीवन के विश्वासपात्र साथी रहे हैं। घोडा स्वामी भक्ति के लिए प्रसिद्ध है। चेतक ने अपने स्वामी महाराणा प्रताप की रक्षा मे प्राण होम दिये। ऐसे उदाहरणो की भी कमी नहीं है जहा मनुष्य ने पशु-पक्षियो की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया। राजा दिलीप ने नन्दिनी गाय को सिंह के मुख से बचाने के लिए अपने को उपस्थित कर दिया। राजा शिवि और मेघरथ ने बाज से निरीह प्राणी कबूतर को बचाने के लिए अपने आपको न्यौछावर कर दिया। मध्य युग मे पाबूजी, गोगाजी जैसे लोक वीरो ने गायो की रक्षा मे अपना प्राणान्त कर दिया।

मानव संस्कृति के विकास मे पशु-पक्षियो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। पौराणिक सदर्भ मे अवतारवाद की जो कल्पना है, उसमे मछली, कछुए, सूअर और नरसिंह (नृसिंह) अवतार के बाद मनुष्य के रूप मे ईश्वर के अवतरण का आख्यान है। जैन मान्यता के अनुसार 24 तीर्थंकरो मे से 15 तीर्थंकरो के चिह्न पशु-पक्षियो से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए भगवान ऋषभदेव का चिह्न वृषभ है तो अजितनाथ का हाथी, सभवनाथ का घोडा है तो अभिनन्दन का वानर, सुमतिनाथ का क्रौंच है तो सुविधिनाथ का मगर, श्रेयासनाथ का गैंडा है तो वासुपूज्य का भैंसा। विमलनाथ का वराह है तो अनन्तनाथ का बाज। शान्तिनाथ का हिरण है तो कुन्थुनाथ का छाग। मुनिसुव्रत का कछुआ है तो पार्श्वनाथ का साप और महावीर स्वामी का सिंह। भगवान नेमिनाथ तो पशु-पक्षियो की रक्षा के लिए राजिमती को अनब्याहे, तोरण से वापस लौट गये थे। इतना ही नहीं, मानव समुदाय के विभिन्न गोत्रो मे नाहर, हिरण,

हाथी, मिन्नी, नाग, बया, साड, गोधा, घोडा, मेष, गदहा आदि जुडे हुये हैं। इन विभिन्न मदर्भो से मानव-जीवन मे पशु-पक्षियो की प्रभावकारी भागीदारी का पता चलता है।

इतिहास बताता है कि मनुष्य और पशु-पक्षियो का इतना प्रगाढ सम्बन्ध होते हुए भी मानव उनके प्रति क्रूर व्यवहार करता रहा है। कभी धर्म के नाम पर देवी-देवताओ को प्रसन्न करने के लिए उसने इनका वलिदान किया तो कभी मनोरजन के नाम पर इनके प्रति निर्दयता का व्यवहार किया है। कभी इन्द्रिय-लोलुपता के वशीभूत होकर वह इनका वध करता रहा है तो कभी सौंदर्य-प्रसाधनो के निर्माण मे इन मूक प्राणियो को होमता रहा है। समय-समय पर महापुरुषो ने पशु-पक्षियो के प्रति इस प्रकार किये जा रहे अत्याचारो के खिलाफ आवाज बुलन्द की है। भगवान् महावीर ने अपने समय मे यज्ञ मे वलिदान किये जाने वाले मूक पशुओ की रक्षा के लिए अहिंसा का उपदेश दिया और कहा कि जैसी तुम्हारी आत्मा है, वैसी सभी प्राणियो की आत्मा है। मध्ययुग मे मासाहार के खिलाफ कठोर शब्द मे सत कबीर ने चेतावनी दी—

बकरी पाती खात है, ताकी काढी खाल।
जो बकरी को खात है, ताको कौन हवाल॥

आधुनिक युग मे महात्मा गाधी, बर्नार्डशा आदि ने मासाहार के खिलाफ अपनी वाणी बुलन्द कर शाकाहार का प्रचार किया। यही नही, जगदीश चन्द्र वसु जैसे वैज्ञानिक ने प्रयोग के आधार पर यह सिद्ध किया कि वनस्पति मे भी जीव है।

इतना सब कुछ होते हुए भी, आज ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे बढोतरी होने पर भी, मनुष्य की क्रूरता मे कमी नही आयी है। प्रसिद्ध विचारक सनेका का कथन है कि समस्त क्रूरताएँ कठोर हृदयता एव दुर्बलता मे से जन्म लेती हैं। आज मनुष्य सर्वाधिक क्रूर वन गया है। पशुओ के प्रति क्रूरता ने व्यापार का रूप ग्रहण कर लिया है। और मनुष्य ही नही, पूरा का पूरा राष्ट्र और राष्ट्रो का समुदाय इस क्रूरता मे प्रतिस्पर्धा कर रहा है। यह स्थिति अत्यन्त भयावह और शोचनीय है।

देश-विदेश के प्रमुख समाचार-पत्रो मे यह समाचार प्रकाशित हुआ है कि पश्चिम यूरोप मे इस साल के अन्त तक करीब पाच लाख गायो की हत्या कर दी जायेगी। यूरोपीय साझा वाजार ने किसानो को चेतावनी दी है कि जो लोग एक सीमा से ज्यादा दूध या दूध से वनी चीजो का उत्पादन करेंगे, उन्हे भारी जुर्माना

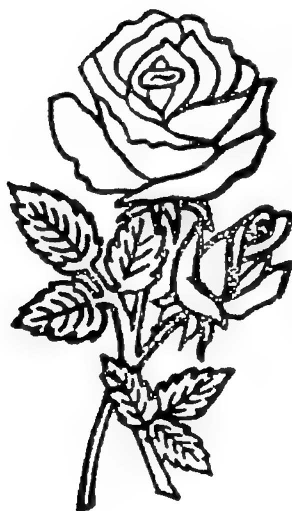
भरना होगा। इन देशो के किसानो के पास 85 हजार टन मक्खन और दूध की बनी चीजें पाउडर आदि का 631 हजार टन भण्डार पहले से है। इन चीजो की बाजार मे माग नही है और सप्लाई ज्यादा है। अत आर्थिक दबाव इस बात के लिए उन्हे विवश कर रहा है कि इनके स्रोत गायो का वध कर दिया जाय। समाचारो के अनुसार ब्रिटेन मे 1983 मे अब तक करीब दो लाख गायों की हत्या की जा चुकी है और यह सिलसिला जारी है। पश्चिम जर्मनी ने 2 लाख 60 हजार गायो को मौत के घाट उतारने का निर्णय लिया है। यह निर्णय मनुष्यो का कल्याण करने वाली राष्ट्रीय सरकारो का निर्णय है। धन-लोभ और भौतिक आसक्ति मनुष्यो और राष्ट्रो को किस निम्न स्तर तक उतार लायी है, यह इसका नमूना है।

आज मानव-सभ्यता और सस्कृति की कडी परीक्षा है। गायो का यह कत्ले-आम न केवल पशु रूप मे गायो का वध है वरन् मानवीय करुणा, प्रेम और सद्भावना की मौत है। गाय जीवन के उदात्त मूल्यो की प्रतीक है। वह स्नेह, सेवा, समर्पण और त्याग की प्रतिमूर्ति है। वह मा है जो सब कुछ देती है। अपना दूध स्वय के लिए नहीं रखती। उसके दूध से मनुष्य की जीवन-शक्ति का रक्षण और सवर्धन होता है। उसकी सताने मनुष्य के प्राणो की आधार कृषि को फलीभूत करने मे सहायक बनती है। उसका गोबर बीज को वृक्ष बनाने मे मदद करता है। उसका अग-प्रत्यग मानव के लिए, प्रकृति के लिये समर्पित है। 'गाय का अस्तित्व मानवता का अस्तित्व है। गाय का नाश मानवता का नाश है।' इस सत्य को जितना जल्दी हृदयगम किया जाय उतना ही श्रेष्ठ है। पर्यावरण की समस्या आज मुह बाये खडी है। जल, स्थल और वायु प्रदूषित होते जा रहे है। गाय है तो जगल है, चरागाह है, तालाब है और इन सबके फलस्वरूप वातावरण की स्वस्थता है, ताजगी है।

आज मनुष्य इतना स्वार्थी और निस्तेज क्यो हो गया है? मा के दूध की एक बूद के लिए कभी वह मर मिटता था, अपना सर्वस्व होम कर देता था। पर क्या आज वह गौमाता के दूध को यो व्यर्थ बहने देगा? कई ऐसे क्षेत्र है जहा दूध के अभाव मे बच्चे तडप रहे है। वे रुग्ण और अशक्त है। उन्हे दूध की जरूरत है। वे दूध पीकर मानवता को नयी शक्ति और स्फूर्ति दे सकते है। अहिंसा और प्रेम से ओत-प्रोत भारत क्या इन मूक पशुओ को अपनी धरती पर नही ला सकता? भारतवर्ष सन्तों, शूरवीरो और दानवीरो का देश है। सन्त तो प्राणी मात्र के रक्षक है। क्या उनकी प्रेरणा जन-जन को जागृत नही कर सकती कि वे इन गायो को अपनी धरती का प्यार दें, अपनी नदियो का पानी दें? क्या यहा की गौ-शालायें इन माताओ को आश्रय नही दे सकती? क्या दुग्ध व्यवसाय को राष्ट्रीय स्वास्थ्य और समृद्धि का

प्रतीक मानने वाली प्रान्तीय सरकारें और देश के विभिन्न डेयरी फैडरेशन पश्चिमी देशो से बातचीत कर इन पाच लाख गायो को अपने यहा मगवाकर देश मे दूध की नदिया बहाने की पहल नही कर सकते ? कर सकते हैं, पर चाहिए हृदय का सहज प्रेम, दृढ इच्छा-शक्ति और सामूहिक प्रयत्न ।

आशा है, समाज के अहिंसा प्रेमी कर्णधार और जन-जन के कल्याण की कामना करने वाले सन्त-महात्मा इस समस्या को गम्भीरता से लेंगे और ऐसी प्रेरणा जगायेंगे कि हर परिवार गौ-माता की सेवा करने को सकल्पित हो और इन मूक प्राणियो की रक्षा हो।



५३ चिदानन्द खेले होरी

भारतीय जीवन और सस्कृति मे पर्व और त्योहारो का विशेप महत्त्व है। पर्व और त्योहार जीवन की नीरसता और जडता को भग कर उसमे सरसता और नवचेतना का सचार करते है। हमारे जो मुख्य पर्व और त्योहार हैं वे ऋतु परिवर्तन अथवा प्रकृति परिवर्तन के सूचक है। वाह्य प्रकृति मे काल-प्रवाह के साथ जो परिवर्तन होता है उससे हमारे जीवन के तौर-तरीके और क्रिया-व्यापार प्रभावित होते हैं। इस दृष्टि से ये पर्व और त्योहार अपने वहिर्मुखी व्यक्तित्व के साथ-साथ आन्तरिक व्यक्तित्व और गुणवत्ता लिये हुए हैं। दीपावली, रक्षावधन, दशहरा, मकर मक्रान्ति, अक्षय तृतीया, होली आदि लोक पर्वो को इस दृष्टि से देखा-परखा जाना चाहिए।

जव सूर्य मकर रेखा से कर्क रेखा की ओर अभिमुख होता है, प्रकृति मे परिवर्तन परिलक्षित होने लगता है। सर्दी समाप्त होती है और उसकी कूख से गर्मी पैदा होने की प्रक्रिया आरम्भ होती है। इस अवस्था को वसन्त कहा गया है। सर्दी और गर्मी के सधिकाल मे होली पर्व आता है। इस पर्व के इर्द-गिर्द प्रकृति के कण-कण मे चेतना का स्फुरण होता है। प्राचीनता के प्रतीक पुराने पत्ते झड जाते है, और उनका स्थान नये पत्ते लेते है। नवीनता का अभिग्रहण इसकी प्रमुख विशेपता है। नवीनता को ग्रहण करने के लिए विशेप प्रकार की मानसिकता और सकल्प-शक्ति की आवश्यकता होती है। इस वल का सचय नवीन भावो और विचारो का वाहक वनता है। प्रकृति मे शरद् ऋतु एक प्रकार मे शक्ति-सचय की ऋतु है। शक्ति का मचय जव अपने मे सीमित न रहकर लोक-कल्याण के लिए प्रवृत्त होता है, तव वह नव और चेतना, उमग और प्रसन्नता का भाव अभिव्यक्त करता है। वसन्त ऋतु के रूप मे प्रकृति का पल्लवित, पुष्पित और फलित होना प्रकारान्तर मे मचित शक्ति का लोक-कल्याण के लिए समर्पण और वितरण है।

"होली" शब्द मे परिपक्वता और पूर्णता का भाव है। जो फसल पक गई है, पूर्ण हो गई है, उसके विवेकपूर्ण उपयोग का भाव-सदर्भ होली पर्व के साथ जुडा हुआ है। जनश्रुति के रूप मे होली पर्व के साथ दो कथाए या घटनाए लोक-मानस मे प्रचलित है। एक कथा या घटना होली पर्व के सदर्भ को काम-विजय से जोडती

है। कहा जाता है कि जब ताडकासुर के अन्याय और अत्याचारो से लोक सतप्त और पीडित हो उठे तो उस पर विजय प्राप्ति के लिए शिव से उत्पन्न शक्ति का नेतृत्व आवश्यक था। इसके लिए कामदेव ने वसन्त से मिलकर तपस्यारत शिवजी को उत्प्रेरित किया। परिणामस्वरूप शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र से काम का दहन कर शक्ति रूप मे कार्तिकेय की सृष्टि की। इस कथा का एक प्रतीकार्थ यह हो सकता है कि जब तक काम का दहन नही होता तब तक शक्ति आविर्भूत नही होती। शक्ति के इस आविर्भाव मे काम-दहन की बडी भूमिका है। जब चेतना विवेकपूर्वक काम को नि शेष कर देती है तब जो शक्ति आविर्भूत होती है उसके आगे अन्याय और अत्याचार ठहर नही पाते। शिव-शक्ति का यह गठबधन मानव मात्र के लिए कल्याणकारी और मगलमय होता है।

ऊपरी तौर पर ऐसा प्रतीत होता है कि वसन्तोत्सव या मदनोत्सव, राग-रग और आमोद-प्रमोद का पर्व है। पर जब भीतर मे गहरे पैठते हैं तो अनुभव होता है कि यह राग-रग और आमोद-प्रमोद बाहरी धरातल पर न होकर आन्तरिक चेतना के विकास पर आधारित है और चेतना का यह विकास कामना को जय करने मे है। कामना को जय करने का अर्थ है उन सारे विकारो पर विजय प्राप्त करना जो चेतना को कलुषित करते हैं, विकृत करते हैं। इस दृष्टि से होली पर्व विकारो को नष्ट करने का पर्व है।

विकार चेतना को ग्रस्त कर चित्त की निर्मलता और मानसिक प्रसन्नता को कुद या मद कर देते है। होली के साथ जुडा हुआ होलिका-दहन का प्रसग इस दृष्टि से बडा व्यजनापूर्ण है। कहा जाता है कि हिरण्य कश्यप सात्विक वृत्तियो का विरोधी था। वह अपने को सर्वस्व समझता था। उसमे दभ और दर्प कूट-कूटकर भरे थे। प्रभु भक्त प्रह्लाद अर्थात् चेतना रूप निर्मल वृत्ति (प्रसन्नता की भावना) को वह नाना प्रकार से प्रताडित करता रहा। उसकी बहिन होलिका भी इस कार्य मे उसकी सहयोगी थी। उसे आग मे न जलने का वरदान मिला हुआ था। अपने भतीजे प्रह्लाद को नष्ट करने के लिए वह उसे अपने साथ लेकर आग मे बैठ गयी। उसे विश्वास था कि प्रह्लाद जलकर नष्ट हो जायेगा और वह अपने वरदान के फलस्वरूप आग से अप्रभावित रहेगी। पर हुआ उसका उल्टा। होलिका जलकर भस्म हो गयी और प्रह्लाद आग मे भी हँसता रहा, मुस्कुराता रहा। उस घटना की स्मृति मे आज भी होली जलायी जाती है। यहाँ होलिका दभ, असत् और अन्याय का प्रतीक है और प्रह्लाद सत्य, न्याय और आह्लाद (प्रह्लाद) भाव का प्रतीक है। दोनो घटनाओ को साथ-साथ देखे तो स्पष्ट होता है कि काम पर विजय प्राप्त करने से चित्त का कालुष्य समाप्त होता है। और प्रसन्नता का, आह्लाद का भाव विकसित होता है। यह प्रह्लाद की भावना जन-जन को ही नही कण-कण

को मैत्री भाव से जोडती है। इस मैत्री भाव का प्रतीक है सूर्य। जिसे सस्कृत मे 'मित्र' कहा गया है। वसन्त ऋतु आने पर सूर्य हमारे जीवन के अधिक निकट आने लगता है। मित्र शब्द "मिद्" धातु से बना है। जिसका अर्थ है—स्नेह। सूर्य अपनी उष्मा से हमारे शरीर मे रहे हुए जल तत्त्व को आकर्षित करता है, उत्प्रेरित करता है। इसीलिए जब हृदय में किसी के प्रति प्रेम, स्नेह और करुणा का भाव प्रकट होता है तो हृदय गद्‌गद हो जाता है, कठ अवरुद्ध हो जाता है, आंखो मे अश्रु छलक पडते हैं, और पूरा शरीर रोमाचित हो उठता है। अपने मित्र सुदामा के प्रति कृष्ण के हृदय मे इतना मैत्री भाव उमडा कि कवि नरोत्तमदास के शब्दो मे कृष्ण ने परात के पानी को नही छुआ और अपने नेत्रो मे छलछलाये आसुओ की धारा से सुदामा के पैर धोये—

'पानी परात को हाथ छुयो नही,
नैनन के जल से पग धोये।'

होली का पर्व वस्तुत प्रेम और मैत्री का पर्व है। इस पर्व के साथ रग खेलने का जो सदर्भ जुडा हुआ है वह वस्तुत हृदय की कोमल भावनाओ को व्यजित करने का तरीका है। इस प्रेम के प्रसार मे वर्ण, जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि किसी का भेद नही रहता। प्रकृति भी विविध रगो मे खिलकर अपना स्नेह और उल्लास प्रकट करती है। होली के साथ जुडे हुए इस व्यापक लोकधर्म के मर्म को न समझने के कारण रग खेलने और आमोद-प्रमोद मनाने के नाम पर कई विकृतियाँ आ गई हैं। आवश्यकता है कि हम इन विकृतियो को दूर कर सच्चे अर्थों मे काम-जय करते हुए प्राणीमात्र के प्रति प्रह्लाद की भावना फैलाये। तभी सही होली खेलने का भाव इस रूप मे उजागर हो सकेगा—

चिदानन्द खेले होरी, सग लिये समता गोरी।
भाव मृदग, दया डफ, बाजत, विनय विवेक धुनि जोरी।
पाच सुमति जिहा झांझ बजत है, योग जुगति ताल बजोरी।
स्नेह, विनय, वैराग्य, अरगजा, निर्मल मन केसर घोरी।

